खण्ड 2
वास्तुशास्त्र का उद्भव एवं विकास

खण्ड दो का परिचय

इस खण्ड का नाम वास्तुशास्त्र का उद्भव एवं विकास है। जब किसी शास्त्र परम्परा की बात की जाती है तो उसका मूल वेद में भी पाया जाता है। यह अलग बात है कि किसी सम्प्रदाय के रूप में भले ही किसी विद्या का रूप वेद में न हो। वास्तुशास्त्र की विद्या ऋषि प्रदत्त है। इस विद्या का सन्दर्भ मूल रूप से वैदिक ही है। इसीलिए प्रथम चरण में इस खण्ड में वैदिक कालीन वास्तुशास्त्र का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र की विकास यात्रा के लिए पुराणों में वास्तु ,रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, तन्त्र, आगम, काव्य एवं नाटक आदि में भी इस विद्या के वर्णन पाए जाते हैं। जिन्हें जानकर हम इस विद्या के विकसित स्वरूप को समझ सकते हैं। यहां पर अध्ययन की सुविधा के लिए 05 शीर्षकों में विषयवस्तु के विवेचन का प्रस्तुतीकरण किया गया है। इस खण्ड की निम्नलिखित इकाइयां है-

1. वैदिक कालीन वास्तुशास्त्र
2. पुराणों में वास्तु
3. रामायण, महाभारत एवम् अर्थशास्त्र में वास्तु
4. तन्त्र एवम् आगम में वास्तु
5. काव्य एवं नाट्य-ग्रन्थों में वास्तु

इस प्रकार द्वितीय खण्ड के अध्ययन से आप वास्तुशास्त्र के उद्भव एवं विकास में वर्णित विभिन्न विषयों की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् उनकी व्याख्या करने में सक्षम हो सकेंगे।

इकाई 1 वैदिककालीन वास्तुशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य

वैदिककालीन वास्तुशास्त्र नामक इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- वास्तुशास्त्र की पृष्ठभूमि बता सकेंगे
- वैदिककालीन वास्तुशास्त्र को जानने के लिए वास्तुशास्त्र का अर्थ और उसकी उत्पत्ति बताएंगे।
- वास्तुशास्त्र का अर्थ और उसकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में विभिन्न मतों का उल्लेख कर सकेंगे।
- वैदिककालीन वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों और तथ्यों की व्याख्या भी उपस्थित कर पाएंगे।
- वास्तुशास्त्र की वैदिक अवधारणा के विषय में उल्लेख करने में सक्षम हो जाएंगे।

1.2 प्रस्तावना

वास्तु का समान्य अर्थ निवास से है, चूंकि जब भी वास्तु विषयक चर्चा होगी तो कहीं न कहीं आवास को लेकर निर्माण को लेकर होगी। वास्तु में गृहादि ही नहीं समाहित हैं अपितु वह चाहे पर्णकुटी हो, महल हो, सार्वजनिक भवन हो, आद्यौगिक भवन हो, देवालय हो, जलाशय हो, अथवा कोई सरकारी कार्यलय या विद्यालय महाविद्यालय या विश्वविद्यालय ही क्यों न हो, ये सभी भवन वास्तु कहलाते हैं। वास्तु का सामान्य अर्थ है निवास। सकारात्मक मानसिकता के साथ कार्य करने हेतु वास्तुशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के अनुरूप निर्माण करने पर निश्चित रूप से मानसिक सन्तुलन सकारात्मकता पूर्ण रहेगा। प्राचीन भारतीय संस्कृति इस विषय को लेकर पूर्वकाल में अधिक सम्पन्न थी। उस काल खण्ड में राष्ट्र सर्वोपरि धर्म था। इसलिए राष्ट्र निर्माण के उद्देश्य से तत्कालीन भवन निर्माणकला वैज्ञानिक आधारित थी। चूंकि मानव राष्ट्र में रहते हुए जिस मानसिकता के साथ रहकर निवास करेगा उसी मानसिकता के

वशीभूत होकर उसका आचार विचार तथा व्यवहार होगा। राष्ट्र हित एवं राष्ट्रकल्याण की चर्चा, परिचर्चा एवं मानसिकता कैसे बनी रहे इसके लिए वास्तुशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के अनुरूप वास्तु निर्माण हो तो निश्चित रूप से हम कायिक, वाचिक तथा मानसिकरूप से सम्पन्न होंगे। अतः हमें ऋषिप्रणीत जो वैज्ञानिक आधारित भवन कला का ज्ञान विज्ञान प्राचीन भारतीय ऋषियों, महर्षियों एवं अठारह आचार्य, प्रमुख रूप से वास्तुशास्त्रविद् हुए। उनके नीति, नियमों उनके द्वारा निर्मित सिद्धान्तों को आधार बनाकर गृहनिर्माण करना चाहिए। उनके बताये सिद्धान्तों का अनुपालन करना, किस प्रकार से किस दिशा में कौन सा भवन निर्माण उपयुक्त होगा, इन समस्त विषयों का अध्ययन हम इस इकाई के माध्यम से करेंगे।

1.3 वास्तुशास्त्र की पृष्ठभूमि

संसार की प्राचीन ज्ञानराशि के रूप में विद्यमान समस्त आधुनिक दृश्य एवं अदृश्य अलौकिक ज्ञान–विज्ञान वेदों में निहित है। वैदिक वाङ्मय भारतीय जीवन दर्शन की सांस्कृतिक विरासत के रूप में अलौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान वह वैदिककालीन हो अथवा वर्तमानकालीन आधारभूत विधायें प्रमाणस्वरूप वेदो में निहित है। लेकिन प्राचीन ज्ञान–विज्ञान को प्राप्त करने की सामर्थ्य केवल शब्द को ब्रह्म मानने वाले विचारधारा से सम्बन्ध रखने वाले, एवं शब्द ही ब्रह्म है और ब्रह्मज्ञान ही परमतत्व है इस प्रकार के निष्ठावान एवं जिज्ञासु ही उस दिव्य अलौकिक ज्ञान को प्राप्त कर सकते है। भारतीय जनमानस अतीत एवं पुराकाल से ही समृद्ध एवं उन्नत रहा है, और आज वर्तमानकालिक ज्ञान–विज्ञान कितना ही समृद्ध क्यों न हो लेकिन भविष्य की चुनौतियाँ आधार रहित ज्ञान के बिना सफल नहीं हो सकती अतः भविष्य कैसे उज्ज्वल हो इस हेतु से वेद के ज्ञान से रहित होकर हम समुन्नत नहीं हो सकते। चूंकि वैदिककालीन संस्कृति एंव तत्कालीन चिन्तनधारा बहुमुखी एवं विविधरूपिणी रही है। प्रत्येक मानवीय क्षेत्र में वह जनकल्याण के विषय में हो या युद्ध अथवा शान्ति की प्रत्येक कला का विषय हो, राजनीति एवं शासनव्यवस्था की स्थिति हो, साहित्य एवं संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला में वास्तुविद्या अथवा स्थापत्य के निर्माण विधान में भारतीय चिन्तनधारा विश्वकल्याण की भावना से ओत–प्रोत होती हुए विकसित हुई है। भारतीय चिन्तनधारा **"सर्वेभवन्तु सुखिनः"** जन भावना के साथ विकसित होती हुई सर्वविध कल्याण की कामना के साथ आज भी परिवर्धित एवं संरक्षित होती हुई विकाससील है। वैदिक चिन्तनधारा के अनुसार इस संसार में यत्र–तत्र–सर्वत्र ईश्वर की सत्ता दृश्य एवं अदृश्य रूप से विद्यमान है। दृश्यरूप में ईश्वर ने अपने प्रतिबिम्ब के रूप मनुष्य को विवेकशील एवं बुद्धिसम्पन तथा परमवैभव से भी सम्पन्नता दी है। वेदों में निहित ज्ञान के आधारभूत ईश्वर ने मानव को आधुनिक उपभोगवादी एवं सर्वविधरूपेण सुविधा एवं सुरक्षा जीवन पद्धति के असीम उत्कर्ष की प्राप्ति हो, इस दृष्टिगत वैदिक विज्ञान ने अनेकानेक साधनभूत मन्त्र–यन्त्र तथा तन्त्र उपलब्ध कराये हैं। मानव जीवन किस प्रकार से सुखमय एवं समृद्धमय हो, तथा समृद्धि के साथ–साथ शान्तिमय हो इसके निमित्त जिन–जिन महत्वपूर्ण उपकरणों की आवश्यकता होती है उनमें सर्वप्रथम निवास हेतु गृहनिर्माण परम आवश्यक है। इस धरती पर उत्पन्न छोटे से छोटे जीव–जन्तु एवं जड़ चेतन, पादप, कीट, पतङ्गे से लेकर विवेकशील प्राणी तक प्रकृति के अटल नियमों में प्रतिबद्ध होकर दैहिक, दैविक एवं भौतिक ताप की निवृत्ति और भौतिक एवं लौकिक सुखशान्ति समृद्धि के लिए जिन संसाधनों के हेतु से सदा प्रयत्नशील रहते हैं इन बहुत सी सुख–सुविधाओं, वह भौतिक हो या लौकिक हों, साधना के द्वारा इस संसार की लीला को वशीभूत करने के हेतु से ही संग्रहीत करने की भावना हो, लेकिन सतत्

प्रयत्नशील रहते हैं। उपर्युक्त समस्या सुख के साधनभूत उन समस्त उपकरणों को संग्रहीत करने के लिए एक मात्र साधन है गृहनिर्माण, ऋषियों, महर्षियों एवं पूर्व आचार्यों द्वारा संग्रहीत आवास एवं गृहनिर्माण से सम्बन्धित विधियां उपविधियां तथा नियमों का भाण्डार एवं वैदिक कालीन संस्कृति में समुन्नत वैज्ञानिक पद्धति भारत ही नहीं, अपितु भरतेत्तर देशों में भी उसका प्रचार–प्रसार है। यदि वैदिककालीन संस्कृति पर दृष्टिपात करें तो सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज भी गृह निर्माण की जिस विधा का प्रयोग कर रहे हैं और जिन–जिन भवनों का निर्माण प्राचीन भारतीय ऋषि पद्धति पर आधारित हुआ है वह भवन आज भी सदियों पूर्व निर्मित होने पर भी ज्यों के त्यों भूमण्डल पर स्थित है। किसी भी प्रकार की आपदा वह चाहे लौकिक हो या पारलौकिक हो या प्राकृतिक हो उनमें आज भी कोई इस प्रकार की विसंगति दृष्टि गोचर नहीं दिखाई पडती है। गृह निर्माण उपर्युक्त तकनीक प्राचीन भारतीय वैदिक वाङ्मय में निहित गृहनिर्माण पद्धति के सापेक्ष होने का ही सुखद परिणाम है। यही कारण है कि जीव अपनी–आपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने लिए गृहनिर्माण कर समस्त भौतिक एवं अध्यात्मिक सुखों को भोगता हुआ दिखाई पड़ता है। परन्तु मानव जाति चौरासी लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ श्रेणी में है।

संसार में प्रत्येक जीवधारी अपनी–आपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी–अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार निवास का निर्माण करता है। यह आवास किस प्रकार का हो, उसकी व्यवस्था कैसे बने। इस विषयक समस्त ज्ञान–विज्ञान वैदिक वाङ्मय में निहित है। आज आधुनिक काल में जिस शास्त्र का नामकरण वास्तुविद्या के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक वाङ्मय में इसे स्थापत्यवेद के नाम से जाना जाता था। चूंकि मानव जाति सर्वश्रेष्ठ होने के फलस्वरूप हमारे ऋर्षियों, महषियों द्वारा चिन्तन एवं अनुसंधान के उपरान्त इस धरा पर किस प्रकार से मानव एवं मानवेत्तर जाति प्रकृति की गोद में प्राकृतिक वातावरण को साथ लेते हुए अपना सुखमय एवं नीरोग होकर जीवन यापन करे, इस दृष्टि से गृहनिर्माण के लिए स्थापत्यवेद, जीवन जीने के लिए आयुर्विज्ञान, मनोरञ्जन के लिए सामवेद मे संगीत विज्ञान, व्यवसाय, सम्पन्नता समृद्धि एवं सामाजिक संगठन के लिए अर्थविज्ञान से जुडे चार अलग अलग उपवेद स्थापित किये हैं। जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्व वेद, अथर्ववेद का स्थापत्यवेद है। वस्तुतः भारतीय वास्तुशास्त्र का उद्गम स्थल विश्व की प्राचीनतम् रचना ऋकसंहिता से हुआ है। ऋग्वेदकाल में वास्तुविज्ञान पूर्णरूप से विकसित स्वरूप में था। ऋग्वेद में दुर्ग निर्माण, प्रासाद निर्माणविधि, विभिन्न वर्णानुक्रम में भवनकला के विषय में विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

वैदिक वाङ्मय में सुन्दर हवेलियों एवं प्रासादों का भी उल्लेख किया गया है जिनको निर्मित करने में लकड़ी का प्रयोग किया जाता था, और यह लकड़ी का प्रयोग भवन निर्माण बहुतायत में होता था। इस प्रकार के भवन जिनमें लकड़ी एवं पत्थर का प्रयोग होता है उन भवनों को आज भी देखा जा सकता है। यह भवन आवास की दृष्टि से प्रकृति के अनुरूप होते है। सर्द ऋतु में इन भवनों के अन्दर का तापमान उष्ण तथा ग्रीष्म ऋतु में शीतल रहता है। ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि मित्र तथा वरूण के पास एक ऐसा प्रासाद था, जिसमें एक हजार स्तम्भ थे। ऋग्वेद 7/3/7 में लौहदुर्ग तथा नगरों का भी उल्लेख किया गया है। विविध प्रकार के स्थानों जैसे गृह हर्म्य आदि का वर्णन ऋग्वेद के 3/53/6 तथा ऋग्वेद के ही 7/56/16 में उपलब्ध होता है। इस प्रकार से प्राचीन वैदिक वाङ्मय वर्तमानकाल की अपेक्षा कही अधिक विकसित था।

1.3.1 वास्तुशास्त्र का अर्थ एवम् उत्पत्ति

अन्धकासुर नामक दैत्य के साथ भगवान शंकर के मलयुद्ध के दौरान शंकर जी के मस्तक से पसीने की बूंदे गिरी, और उनसे एक भयंकर भयावह प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ। उसने अन्धकगणों का रक्तपान किया, परन्तु वह उससे तृप्त न होकर सम्पूर्ण सृष्टि को भक्षण करने के लिए प्रवृत हुआ। इसके पश्चात शंकरादि समस्त देवतागणों ने उसे पकड़ कर औधें मुंह(उलटा) लेटा दिया। और वास्तुपुरूष की संज्ञा से उदबोधित किया और जिस देवता ने जहां से जिस दिशा से उसको पकड़ा था उसी देवता ने उस अंग में वास किया और वही विशालकाय पुरूष वास्तुपुरूष के नाम से विख्यात हुआ। इसके विषय में आधुनिक विद्वानों द्वारा रचित पुस्तकों में भी कुछ प्रमाण उपलब्ध है, जो पुराण आदि शास्त्रों से ही **एकत्रित** किये गये है।

वास्तुशास्त्र का स्वरूप एवं उत्पत्ति–ः
पुरा कृतयुगे ह्मासीन्महद्भूतं समुत्थितम्।

व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भुवनं ततः।।
तद्दृष्टवा विस्यमं देवा गताः सेन्द्रा भयावृताः।

ततस्ते क्रोधसन्तप्तैगृहीत्वा तमथासुरम्।।
विनिविक्षिप्तमधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव ते सुराः।
तभेव वास्तुपुरूषं ब्रह्मा कल्पितवान स्वयम्।।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार स्पष्ट प्रतीत होता है कि वास्तुशास्त्र का वैदिक काल में जन्म हुआ, लेकिन इसका पूर्ण रूप से विकास आगम एवं पुराणकाल में हुआ, और महाभारत काल तक यह पूर्णरूप से विकसित हो चूका था।

वास्तुशास्त्र को प्रमुखरूप से ज्योतिष शास्त्र का संरक्षण प्राप्त है, क्योंकि ज्योतिषशास्त्र प्रायः दिग–देश–काल के सिद्धान्त पर कार्य करता है अतः उसमें भी सहिता भाग में वास्तु विद्या का वर्णन उपलब्ध होता है, वह चाहे नारद संहिता हो या बृहत्संहिता हो या अन्य कोई भी इसके प्रमाण प्रचुर मात्रा में संहिताओं में उपलब्ध हैं। भास्कराचार्य जी नें वेदों के छः अंग माने है जैसे व्याकरण, ज्योतिष निरूक्त, कल्प, शिक्षा एवं छन्द इन छः अंगों को ही वेदांग कहा गया है। लेकिन छः अंगों में भी ज्योतिष शास्त्र ने व्यक्ति के विविध पक्षों का सूक्ष्मातिसूक्ष्य रूप से विचार किया है, उसमें भी होरा एवं संहिता विभाग ने व्यक्ति के सुख दुख का व्यष्टिगत एवं समष्टिगत दृष्टि से विशेष विचार किया है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में पुरूषार्थ चतुष्ट्य की बात कही गई है उसके लिए गृह का होना अति आवश्यक है अतः दूसरे के घर में किये गये श्रौत स्मार्त आदि समस्त शुभकार्य कभी भी फल को देने वाले नहीं होते अतः जीवन में व्यक्ति को जैसे–जैसे गृह–निर्माण आवश्य करना चाहिए। क्योंकि दूसरे के घर में किये गये सभी शुभ कार्य भूस्वामि को प्राप्त होते हैं। वैसे भी हमारे यहां पर गृह निर्माण के उत्तरोत्तर अनन्त पुण्य फल की प्राप्ति कही गई है। अर्थात् घास फूस से निर्मित घर निर्माण से करोड़ों गुणा फल एवं मिट्टी का घर निर्माण करने से दस करोड़ गुणा फल, ईंट का घर निमार्ण करने से सौ करोड़ गुणा फल और पत्थरों के द्वारा घर निर्माण करने से अनन्त पुण्य फल की प्राप्ति कही गई है। तथापि भविष्य पुराण में भी गृह की आवश्यकता पर बल दिया गया है। **"गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाःन सिद्धयन्ति गृहं विना"** अतः गृह निर्माण हमारे जीवन का एक प्रमुख अंग है। वास्तुशास्त्र के क्षेत्र में

हमारे आचार्यो का विशेष योगदान रहा है। जिन्होनें इस शास्त्र को पल्लवित पुष्पित एवं सुरक्षित रखने में विशेष योगदान दिया है जिन्हें वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक के नाम से उपाधि प्राप्त है। वे मुख्यता मत्स्यपुराण के अनुसार निम्नलिखित हैं।

अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्; विशालाक्ष पुरन्दर नन्दीश, शौनक, गर्ग वासुदेव, अनिरूद्ध, शुक्र, बृहस्पति एवं अश्विनी कुमारों ने वास्तुशास्त्र के क्षेत्र में अह्म भूमिका निभाई है। उपर्युक्त आचार्यों में सभी के पूर्ण रूप से आज ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है परन्तु "मय" रचित "मयमतम्" एवं विश्वकर्मा रचित विश्वकर्मा प्रकाश आज भी उपलब्ध है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अनुसार यदि हम वास्तुशास्त्र के अतीत पर दृष्टि डालें तो असुरों में मय की अपनी एक प्रतिष्ठा थी और देवताओं में विश्वकर्मा जी की।

वैसे ही आज भी इस विद्या को तथाकथित लोगों के हाथों में देखा जा सकता है जिन्होंने धनलोलुपता के वशीभूत होकर आज इस विद्या को पुनः कटघरे में खड़ा कर दिया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाय तो इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब–2 धर्मशास्त्रों का तथाकथितों के द्वारा ह्रास किया गया तब–तब उनको शापित होना पडा है। इसी सन्दर्भ में ब्रह्मवैवर्त पुराण में विश्वकर्मा के पुत्रों को ब्रह्मा ने शाप से दग्ध किया था। **स्थापत्य शास्त्र मध्यकाल में** वास्तुशास्त्र के रूप में दृग्गोचर हुआ। वैदिक युग में घरों का निर्माण तक ही वास्तुशास्त्र सीमित था, परन्तु कालान्तर में शनैःशनैं इसका विकास हुआ और यह नगर–शहर–**हर्म्य**, एवं महानगरों के रूप में विकसित हुआ। धीरे–धीरे मूर्तिकला एवं चित्रकला भी इसके मुख्य अंग हो गये। भित्ति, प्रतिमाओं एवं चित्रकला भी वास्तुशास्त्र में परिणत हो गई। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण समराङगण सूत्रधार ग्रन्थ भोजदेव रचित आज भी उपलब्ध है जो इस बात की पुष्टि करता है। वास्तु–शिल्प एवं चित्रकला इसके तीन अंग है। "विश्वकर्माप्रकाश" और **मयमतम्** तथा अपराजित पृच्छा वास्तुशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ माने जाते है।

उत्तरवर्ती काल में अनेक आचार्यों ने वास्तु शास्त्र के ऊपर स्वतन्त्र ग्रथों की रचना की है जिनमें कुछ प्रमुख है। यथा।– सगराङण सत्रधार, वास्तुराजवल्लभ, प्रासादमण्डन शिल्परत्न, वास्तुरत्नाकर, ज्योतिर्निबन्ध, मुहूर्तचिन्तामणि, बृहत्सहिता, **प्रमाणमञ्जरी,** बृहद्वास्तुमाला, वास्तुसार, एवं भारतीय वास्तुविद्या के वैज्ञानिक आधारादि। वैदिक वाङ्मय में वास्तु का सामान्य अर्थ गृह, भवन, प्रासाद, दुर्ग इत्यादि से था, या फिर वास्तु वाङ्मय में वास्तु का सामान्य अर्थ है **"गृह निर्माण हेतु उपयुक्त भुखण्ड"।** वास्तु शब्द की उत्पत्ति "वस्" वासे धातु से हुई है।यह "वस्" धातु किसी एक स्थान में निवास करने से है उणादि सूत्र "वसेस्तुन" के अनुसार इसमें "तुन्" प्रत्यय लगाया गया है। प्रथम अक्षर 'व' के ह्रस्व 'अ' को दीर्घ 'आ' इसलिए किया गया है क्योंकि इस प्रत्यय को 'णित्' माना जाता है। "अगारे णिच्च" वास्तु का व्यत्पतिलभ्यार्थ है। **"वसन्त्यस्मिन्नितिवास्तुः"** अर्थात् वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हों उसे वास्तु कहते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण भूखण्ड को वास्तु कहा जाता है ऐसा उपयुक्त नहीं है, चूंकि अनेकों ऐसे भूखण्ड हैं जिनमें निवास नहीं किया जाता और वास्तु के नियमानुसार ऐसे भूखण्ड का संस्कार नहीं किया जाता है वह भूखण्ड आवास की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। इसलिए वर्तमान कालखण्ड में वास्तु नियमानुसार नहीं बनाये गये भूखण्डों को वास्तु नहीं कहा जा सकता। चूंकि वास्तुसम्मत भूखण्ड के लिए समस्त वास्तु के नियमों का पालन करके उसकी वैज्ञानिकता [1] सिद्ध करने के बाद ही उसमें दुर्ग

1. शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी श्रोत्रमुक्तं निरूक्तं च कल्प करौ।

निर्माण करना, मठ, मन्दिर, गुरूद्वारा प्रासाद, नगर, महलआदि का निर्माण किया जा सकता है। आचार्य चाणक्य जी ने वास्तुशब्द का प्रयोग विशाल अर्थ में अपने चाणक्य अर्थशास्त्र में किया है। उनके मतानुसार गृह, वाटिका उद्यान, बाग, बगीचा, आदि समस्त स्थलों पर मानव किसी न किसी स्वरूप में निवास करता है। इसलिए उनके अर्थ में सभी स्थल वास्तु के अन्तर्गत आते हैं। भारतीय संस्कृति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आधारभूत सिद्धान्त पर कार्य करती है। भारतीय संस्कृति धर्म के अनुसार अर्थ की उत्पत्ति हो अर्थात् सत्यनिष्ठा को आधार मानकर अर्थ की प्राप्ति करना और कामनापरक उपयुक्त योग्य संसाधनों का उपयोग करते हुए मोक्ष की कामना करना यह प्राप्ति ही भारतीय संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य रहा है। इसी हेतु से वास्तुशास्त्र में वापी, कूप, तड़ाग, देवालय, पशुशालादि का निर्माण भी वास्तु के अन्तर्गत रखा गया है। चूंकि देवालय में मानव साधक के रूप में निवासित होता है। पशुशाला में अपने उपयोग के लिए पशुपालन के हेतु से उपयोग करना इत्यादि विशाल अर्थ में वास्तुशास्त्र को रखा गया है। यथा।–

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्।
जन्तुनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।।

वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते।
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन बिबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।

यह देवशिल्पी विश्वकर्मा आदि द्वारा स्त्री, पुत्र, आदि के भोग, सुख, धर्म, काम को देने वाला प्राणियों के सुख का स्थान और सर्दी, वायु, गर्मी, आदि कष्टों से रक्षा करने वाला, 'गृह' ही है। विधिवत् गृहनिर्माण कर्ता बाबड़ी, देवालय आदि के निर्माण का पुण्य भी प्राप्त होता है। इसलिए पुण्य की प्राप्ति हेतु जीवन में एक बार गृहनिर्माण अवश्क करना चाहिए। देववास्तुशास्त्री विश्वकर्मा आदि द्वारा गृह निर्माण कें भी उत्तरोत्तर पुण्य फल प्राप्ति के विषय में कहा है। यथा–

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसङ्गुणम्।
ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्त फलं गृहे।।

नूतन गृह निर्माण से पुण्य की प्राप्ति तो होती ही है इसके साथ–साथ यदि पुरातन वापी, कूप, तडाग, प्रासाद, भवनों का भी यदि जीर्णोद्धार यदि कोई करता है तो उसको भी पुण्यफल प्राप्त होता है। यथा–

वापी–कूप तड़ागादि–प्रासाद–भवनानि च।
जीर्णान्युद्धरते यस्तु पुण्यमष्टगुणं लभेत्।।

यहां तक कि वास्तु निर्माण के महत्व को विशिष्टता के साथ रखते हुए वास्तुशास्त्रियों द्वारा धर्मार्थ के उद्देश्य की प्रतिपूर्ति हेतु परगृह निवास फल को अर्थात् दूसरे के घर में बिना शुल्क दिये जो निवास करता है, तो उस भूमि एवं भवन पर निवास करते हुए

या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका पादपाद्मद्वयं छन्द आद्यैबुधैः।।

2. परगेहकृतास्सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमिशः फलमश्नुते।।

3. कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसङ्गुणम्।
ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गेहे।।

श्रौत, स्मार्त आदि समस्त शुभकार्य करने पर उनका फल भूमिपति को प्राप्त होता है। उनका स्वयं के लिए पुण्यफल निष्फल बताया गया है। यथा–

परगेहकृतास्सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।

वर्तमान में वास्तुकला का अर्थ गृह निर्माण कला हो गया इसके अनुसार वास्तुशास्त्र का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय आवासीय एवं व्यवसायिक भवनों, देवमन्दिरों बांधो, सेतुओं, एवं तड़ागों अर्थात् प्रत्येक तरह के भवन, क्षेत्र, वाटिका, आदि रचना के सिद्धान्तो की प्रविधियों उपायों एवं साधनों की व्याख्या करना रह गया है। वास्तु के वैदिक देवता का नाम वास्तोष्पति है। वास्तोष्पति के विषय में ऋग्वेद में एक नहीं अपितु दो सूक्तों में वास्तु तथा भवन पर शासन करने वाले देवता वास्तोष्पति से जीवन में आने वाले दुःख दरिद्रता, रोग, शोक, आधि–व्याधि, भय, उपद्रव आदि के शमनार्थ एवं सुख–शान्ति, समृद्धि तथा भाग्य की अभिवृद्धि के हेतु से प्रार्थना की गई है।

यथा।– **ॐ वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्स्वावेशोऽअनमीवो भवानः।**
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भवद्विपदे शं चतुष्पदे।।

साहित्य के क्षेत्र में वास्तु विज्ञान।– प्राचीन भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित जीवनोपयोगी, राष्ट्रोपयोगी सामग्री संस्कृत साहित्य में यत्र–तत्र इसलिए अलग–अलग विषयों एवं शास्त्रों मे उपलब्ध होती है। क्योंकि मानवीय जीवन का चरित्र साहित्य के द्वारा होता है, तथा जीवन मे उत्कृष्ट निर्माण सम्बन्धी क्रिया के द्योतक के रूप मे वास्तुशास्त्र सभ्य समाज एवं सभ्य जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। वास्तुशास्त्र के विषय में हमें यह ज्ञान संस्कृत साहित्य में हमें भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में पांच प्रकार से उपलब्ध होता है। जिसमें निम्नप्रकार से है। यथा।–

1. **वैदिकवाङ्मय में वास्तुशास्त्र।**
2. **पौराणिकसाहित्य में वास्तुविज्ञान।**
3. **प्राचीन काव्यग्रन्थों मे वास्तुशास्त्र।**
4. **प्राचीन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ।**
5. **अर्वाचीन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ।**

संस्कृत साहित्य में वास्तुविद्या एवं स्थापत्य कला का उल्लेख जिन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उनके विषय में निम्नलिखित ग्रन्थों के अध्ययन एवं अवलोकन के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। वर्तमान काल खण्ड प्रत्येक विषय को प्रमाणिकता के तराजु पर तोलता है इसलिए प्रमाण के लिए आधार आवश्यक है। यथा

वेद।– 1) ऋग्वेद मे वास्तुविज्ञान 2) यजुर्वेद मे वास्तुशास्त्र 3) सामवेद में वास्तु 4) अथर्ववेद में वास्तुशास्त्र।

इसी प्रकार से आगम ग्रन्थों में भी वास्तुशास्त्र विषयगत साक्ष्य उपलब्ध होते हैं तथा–

1) कामिकागम में वास्तु 2) सुप्रभेदागम में वास्तु 3) वैश्वानरागम में वास्तुविज्ञान 4) करणागम में वास्तु 5) शैवागम में वस्तुविज्ञान 6) तन्त्र शास्त्रों में वास्तु 7) हयशीर्ष पञ्चरात्र में वास्तु विज्ञान।

उपर्युक्त वैदिक कालखण्ड में वास्तुशास्त्र का प्रचलन पूर्णरूप से था, इसलिए वर्तमान काल की अपेक्षा वह युग कहीं आज की अपेक्षा अत्यधिक समुन्नत था।

पौराणिककाल में वास्तुविज्ञान– पौराणिक काल में वास्तुशास्त्र पूर्णरूप से विकसित था। जिसका एक उदाहरण इस प्रकार भूसर्वेक्षण के आधार पर किया जा सकता है, कि आज भी पर्वतीय प्रदेशों एवं ग्रामीण परिवेश में नगरों और शहरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा लोगों को परम्परागत गृहस्वामियों के माध्यम से वास्तु के विषय में जैसें नीवं खोदना, द्वारस्थापना, दिशा का ज्ञान, इत्यादि लगभग सभी गृह के भीतर होने वाली स्थापना के विषय में काफी अच्छा ज्ञान लोग रखते हैं। चूंकि पौराणिक काल कथा कहानियों वाला कालखण्ड रहा है इसलिए पौराणिक काल के अनन्तर भी वर्तमान काल तक वास्तुशास्त्र का ज्ञान लोगों में देखा जा सकता है। यदि हम गहराई पूर्वक अध्ययन करे तो पौराणिक काल मे लगभग अठारह पुराणों में से बारह पुराणों मे वास्तुविद्या का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

मत्स्यपुराण मे वास्तुशास्त्र, अग्निपुराण, वराहपुराण, श्रीमद्भागवत् पुराण, गरूणपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, स्कन्द पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णु पुराण, देवीभागवत पुराण, भविष्य पुराण, और नारद पुराण। उपर्युक्त पुराणों मे बड़े–बड़े गृहों का, महलों का मन्त्रियों का एवं राजभवनों की व्यवस्था तथा गृहस्वामी की सुरक्षा के हेतु से आन्तरिक एवं बाह्यरूप में वर्णन प्राप्त होता है।

वास्तुशास्त्र का सतत् विकास यहीं पर नहीं रूका अपितु अनवरत निर्बाध गति के साथ प्राचीन काव्य ग्रन्थों में चलता रहा, जिसका उदाहरण वाल्मिकी रामायण एवं महाभारतादि काव्यों मे भगवान राम राज्य के महलों का वर्णन, आकार, प्रकार, ऊचाई, नीचाई, कक्षों की व्यवस्था का विस्तृत रूप से विवेचन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार से महाभारत में भी पाण्डवों एवं कौरवों के महलों का वर्णन विस्तृत रूप से वास्तुसम्मत विषयानुगत उल्लेख प्राप्त होते है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन वास्तुशास्त्र काल।– वास्तुशास्त्र का कालक्रम यहीं पर ही स्थगित नहीं होने वाला था अपितु वैदिककाल से पौराणिककाल एवं साहित्यिक काव्य ग्रन्थों से होता हुआ प्राचीन एवं अर्वाचीन काल से होता हुआ, वर्तमान काल में भी आधुनिक लेखकों द्वारा वास्तु के विषय पर चर्चा, परिचर्चा महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में अध्ययन, अध्यापन एवं व्याख्यान समिनारों के माध्यम से लगभग यत्र–तत्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होता हुआ दिखाई पड़ता है। प्राचीन एवं अर्वाचीन कालखण्ड में अनेकों लेखकों, ऋषियों महर्षियों द्वारा कई ग्रन्थ वास्तुविषय पर लिखे गये है। यथा– विश्वकर्मा प्रकाश, मयमतम्, वृहत्संहिता, मानसार, समराङ्गण–सूत्रधार, अपराजितपृच्छासूत्र, जयपृच्छ, प्रमाणमञ्जरी, वास्तुसूत्रोपनिषद, वास्तुराज वल्लभ, वास्तुरत्नाकर, प्रासाद मण्डन, वास्तुमण्डन, कोदण्ड मण्डन, शिल्परत्न, वास्तु सौख्यम्, वास्तु सारिणी, वास्तुमाणिक्य रत्नाकर, वास्तुसार, वास्तु प्रदीप, वास्तु रत्नावली आदि प्रमुख वास्तुशास्त्र के ग्रंथ जिनमें वास्तुविषयक ज्ञान का भण्डार निहित है। इसलिए वास्तुशास्त्र का अर्थ एवं उत्पत्ति का आधार उपर्युक्त ग्रथों में निहित है।

1.3.2 वैदिककालीन वास्तुशास्त्र

भारत एक ऐसा राष्ट्र है जो विश्व के अन्य राष्ट्रों की तुलना में सबसे पृथक है यहां की परम्परायें अत्यन्त प्राचीन हैं। इस विषय में हम पूर्ण ज्ञान प्राचीन वैदिक साहित्य एवं वर्तमानकाल में प्रमाण सिद्ध करने वाली संस्था पुरातत्व विज्ञान के माध्यम से भी

जान सकते हैं। इसी क्रम में सिन्धु नदी जो आज के परिवेश में यह क्षेत्र विभाजन के कारण पाकिस्तान के भाग में चला गया। विभाजन के पूर्व अखण्ड भारत के रूप में यह संस्कृति उस काल खण्ड में कहीं आज से भी ज्यादा पल्लवित एवं पुष्पित तथा सुसज्जित रही होगी जिसका समस्त उल्लेख प्रमाणिकता के साथ पुरातत्व विज्ञान के पास आज भी व्यवस्थित है। यह प्राचीन संस्कृति का काल ईसा से 3 हजार वर्ष पूर्व माना जाता है। उतने प्राचीन काल में वास्तु, मुर्तिकला, स्थापत्यकला आदि भौतिक कलायें विद्यमान थी। वर्तमान सुसभ्य राष्ट्र आज जिन कलाओं के विषय में जानते हैं जिसमें, वास्तुकला, मुर्तिकला, चित्रकला, भाण्ड निर्माणकला, संगीत, नाट्यकला, आदि वैदिक युग में प्रसिद्ध थी। इन कलाओं के विषय में विभिन्न सन्दर्भों के उल्लेखों से यह ज्ञात होता है।

वैदिक काल में वास्तुविद्या अपने विकसित रूप में थी। वेदों में **ब्राह्मण** ग्रन्थों में तथा उपनिषदों में वास्तुविद्या से सम्बन्धित अनेकों शब्द इस विषय के साक्षी के रूप में विद्यमान है। उदाहरण के रूप मे **"स्कम्भ"** घरों की छत आदि को टिकाने वाले स्तम्भ, इन्द्र का स्कमीयान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्तम्भ या खम्बे का स्वामी कहा जाता है। घर के भिन्न–भिन्न भागों को खम्भों पर टिकाते थे जिनको स्तम्भ कहा जाता है। एक मन्त्र में मजबूत आधार पर स्थापित किये गये तीन खम्भों का वर्णन उपलब्ध होता है। उसके ऊपर तिकोना या ढोलकाकार छतें बनाई जाती थी। स्तम्भ की नीव को अरूण के नाम से जाना जाता था।

वैदिक वास्तु विन्यास में भवन अथवा घर के पर्याय के रूप में कई शब्दों का प्रयोग हुआ। जैसे गृह, **हर्म्य,** सदन, हम, दुरोण, अस्त, शरण, तथा पस्त्या आदि। वैदिक कालीन धर में चार प्रमुख भाग होते थे। प्रथम भाग सामने के आंगन सहित गृह, द्वार दूसरा भाग सदस्य स्थापित बैठक थी जिसे सभा या कालान्तर में आस्थान या मण्डप भी कहा जाता था। राजमहलों का यह वह भाग होता था। घर का तृतीय भाग पत्नी सदन होता था जिसे कालान्तर में अन्तःपुर कहा जाने लगा। गृह का चौथा भाग अग्निशाला या यज्ञशाला कहलाता था जिसमें विभिन्न वैदिक मन्त्रोच्चारण के साथ वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। इस अग्निशाला का नाम अग्निशरण भी कहलाता था जिसे बाद में अग्निशरण के स्थान पर देवग्टह की संज्ञा से उद्बोधित किया जाने लगा। गृह निर्माण छोटे या बड़े सभी रूपों में किया जाता था। बड़े गृह को **"बृहन्तमानवरूण स्वधावः"** तथा छोटे गृह को शाला कहते थे। अथर्ववेद में दो शाला सूक्तों में घर के अन्य भागों का वर्णन उपलब्ध होता है।

वैदिककाल में लोग वधु को अपने घर की लक्ष्मी समझकर मान सम्मान करते थे। इसलिए उस युग में जब कोई गृहपति घर का निर्माण करवाता था तो उसके मन मस्तिष्क में यही होता था कि यह शाला गोमती, अश्वावती, पयस्वती, घृतवती, ऊर्जस्वती और **सुनृतावती** बनकर मेरे लिए महान कल्याणकारी बनकर सौभाग्य को प्रदान करने वाली होगी।

सदैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽवावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्य महते सौभगाय।।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार घर के दो भाग होते थे। एक पूवार्ध या सैदस् जिसे कहते थे जहां पर पुरूषों का उठना बैठना रहता था। इसी सदस् से एक स्तम्भ खड़ा किया

जाता था जिसे वरसिष्ठ स्थूणाराज का नाम दिया गया है। घर के पृष्ठ भाग में पत्नीसदन या अन्तःपुर बनाया जाता था। इसका निर्माण प्रायः बराबर लम्बाई–चौड़ाई में किया जाता था। जैसे सुन्दर स्त्री वरीयसी अथवा पृथुश्रोणि होती है उसी प्रकार इस शाला के उत्तरार्ध भाग को भी बनाया जाता था। इस विषय में शतपथ ब्राह्मण में कुछ ऐसे प्रकार से उल्लेख प्राप्त होता है। **"अथ यत् पश्चात् वरीयसी भवति। वरीयसी पृथुश्रोणि वै येषां प्रशंसन्ति"।**

घर की नीवं को ध्रुवा कहा जाता था। वह बहुत पक्की होती थी नीव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि गृह निर्माण कला के समस्त मूल तत्व वैदिककाल में विद्यमान थे।

अथर्ववेद एवं शुल्व सूत्रों में वास्तु विवरण।– वास्तु से सम्बन्धित सर्वाधिक प्रमाणित सिद्धान्त एवं निर्माण विधियों का उल्लेख सर्वाधिक अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं। इसमें स्तम्भरचना विधि, उन स्तम्भों पर आश्रित के रूप में वलियों को स्थापित करके शहतीरों को जोड़ने के उपरान्त घास डालकर छाने का कार्य या ढककर ढलानदार बाहरी घास–फूस की छत निर्माण के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इससें भवन की वैदिक गोष्ठी शाला, भण्डार गृह, अन्तःपुर, यज्ञशाला, तथा अतिथि गृह जैसे घर के महत्वपूर्ण भागों का स्पष्ट उल्लेख होता है।

यज्ञ–यागादि विविध धार्मिक अनुष्ठानों के लिए आवश्यक यज्ञवेदियों के विभिन्न रूपों की निर्माण विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। गृह निर्माण मे ईटों की लम्बाई–चौड़ाई का परिमाप विभिन्न स्तरों पर विभाजन किस प्रकार से करना चाहिए। इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। बौधायन तथा आपस्तम्भ सूत्रों में श्मेनचित्, कंकचित् एवं द्रोणचित आदि की निर्माण विधियों का सूक्ष्म विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य एवं पौराणिक साहित्य में वास्तु।– भारतीय संस्कृति के मूल आधार वेद है। आज भारत में जो संस्कृति दृष्टिगोचर होती है वह सब वेदों की देन है और वेदों को विश्व का सबसे प्राचीन पुस्तक होने का श्रेय प्राप्त है। अतः इस बात से स्वयं अनुमान लगाया जा सकता है, इस विषय को प्रमाणित करने की आवश्यकता पर बल देना मूर्खता होगी। यह भी सर्वविदित है कि वेद चार है **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद** चारों वेद के चार उपवेद है। जैसे ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का स्थापाव्य वेद और अर्थवेद आदि पाँचों उपवेद माने गये हैं। वेदों का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक कालीन चिन्तनधारा बहुमुखी रही होगी क्योंकि धर्म संस्कृति, राजनीति, संगीत, साहित्य, चित्रकला, शिल्प एवं वास्तुविद्या अथवा स्थापत्य कला में पूर्वरूप से विकसित थी। आधुनिक विज्ञान ने जीवन को शान्तिमय एवं सुखमय बनाने के लिए विविध आयाम **उपस्थापित** किये जिनमें प्रमुख गृह निर्माण है। ऋग्वेद के समय में वास्तुविद्या पूर्णरूप से विकसित थी। दुर्ग–प्रासाद और भवनों का उल्लेख किया गया है समृद्ध एवं सुसम्पन्न लोग दुर्गों, भवनों एवं प्रासादों में रहते थें, ये पत्थरों से निर्मित होते थे तथा चित्रकारी इनके ऊपर अंकित रहती थी कहा गया है कि विविध प्रकार के भवन महल लोहस्तम्भ, गृह **हर्म्य** आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। वैदिक युग में धर्म से सम्बन्धित यज्ञ–अनुष्ठान के लिए कुण्ड मण्डप, से यज्ञवेदियों, यज्ञशालाओं, मठों मन्दिरों का वर्णन उपलब्ध होता है। समय की गतिधारा के अनुसार उत्तरोत्तर इस वास्तुविद्या का विकास आगे चलकर स्थापत्यवेद, पुराण, एवं वास्तु के अन्य ग्रंथों के रूप में परिलक्षित हुआ।

पौराणिक साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि अठारह पुरणों में लगभग आधे से ज्यादा में वास्तुविद्या का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे मतस्यपुराण, गरूडपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, इत्यादि।

1.4 सारांश

वैदिक काल में गृह निर्माण की कला एवं स्थापत्य के विषय मे आपने इस इकाई में अध्ययन किया। वस्तुतः वैदिक काल मे ंहम कहीं ज्यादा समुन्नत थे। वेदकाल में घासफूस की झोंपड़ी से लेकर हर्म्य, महल, राज–दरबार तक का उल्लेख प्राप्त होता है। यहां तक कि सिन्धु घाटी की सभ्यता जो कि ईसा से 3000 वर्ष पूर्व, की स्थिति मे ंहम पूर्ण रूप से विकसित थे। वेद में वास्तुशास्त्र के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रथों में उपनिषदों में ऋग्वेदादि में **"स्कम्भ"** शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्र को स्कभीयान अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्तम्भ का स्वामी कहा जाता था। घर के चार भाग होते थे प्रथम भाग में आंगन सहित द्वितीय भाग सदस या स्थायिका, तीसरा भाग पत्नी सदन कालान्तर में उसे अन्तःपुर कहा जाने लगा। चौथा भाग अग्निशरण भी कहा जाता है बड़े घर को तथा छोटे घर को शाला कहा जाता था। शाला को गोमती, अश्वावती, पयस्वती, घृतवती, ऊर्जस्वती और सुनृतावती बनकर मेरे लिए महान कल्याणकारी बनकर सौभाग्य को प्रदान करने वाली हो ऐसा उल्लेख मिलता है।

1.5 शब्दावली

मनोऽनुकूलम् – मन के अनुकूल।
मनःप्रतिकूलम – मन के प्रतिकूल।
इष्टप्राप्तिः – इच्छित वस्तु की प्राप्ति।
अनिष्टपरिहाराय – अनिष्ट का परिहार हो।
स्थापत्य वेद – जिसमें स्थापत्यकला का ज्ञान हो।
वास्तोष्पति – वास्तु के स्वामी।
पुराकाले – प्राचीनकाल में।
कृतयुगे – सतियुग में
महद्भूतं – अत्यधिक बड़ा।
व्याप्यमानम् – व्याप्त।
सकलंम – समस्त
भुवनम् – लोक
सेन्द्रा – इन्द्र सहित।
भयावृताः – भय से आक्रान्त।
क्रोधसन्तप्तैः – क्रोध से आप्त।
अधोवक्त्रं – नीचे की ओर मुख।
कल्पित्वान – निर्मित किया।
परगेहकृताः – दूसरे के धर में किये गये।
श्रौतस्मार्त क्रिया – श्रुति एवं स्मृति आधारित कर्म।

निष्फलाः	–	फल रहित।
भूमीशः	–	भूमि का स्वामी।
फलमश्नुते	–	फल की प्राप्ति करना।
कोटिघ्नं	–	करोंड़ो गुणा।
तृणजे	–	तिनके के द्वारा।
मृण्मये	–	मिट्टी युक्त।
दसङ्गृणम्	–	दस गुणा।
शतकोटिघ्नम्	–	सौ करोड़ गुणा।
शैल	–	पत्थर।
रम्याम्	–	भूमि पर।
स्वधया	–	स्वधा के द्वारा।
पुत्रोऽहम्	–	मैं पुत्र हूँ।
हव्यम्	–	देव आहुति।
जरद्	–	बुड़ापा।
जगतस्थुषश्च	–	जगत में स्थित।
चक्षुर्मित्रस्य	–	मित्र के चक्षु से
द्यावापृथिवी	–	दिव लोक तथा पृथ्वी लोक
वरूणस्याग्ने	–	वरूण एवं अग्नि देव।

1.6 बोधप्रश्न/अभ्यास प्रश्न

1. वैदिक कालीन वास्तु के ऊपर निबन्ध लिखें।
2. वैदिक काल के गृह निर्माण के विषय में संक्षिप्त विवरण करें।
3. वास्तुशास्त्र की उत्पत्ति एवं स्वरूप को विस्तृतरूप से स्पष्ट करें।
4. दूसरे घर में किये गयें कार्यों के विषय में वास्तुशास्त्रीय मत स्पष्ट करें।
5. वास्तुनिर्माण के फल का प्रतिपादन करें।
6. वेद में भूमि देवी के विषय पर लिखित प्रसंगों का उल्लेख करें।
7. जल तत्व की आवश्यकता पर क्यों बल दिया जाता है। स्पष्ट करें।

1.7 सहायक उपयोगी पुस्तकें

1. वृहद्वास्तुमाला– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के 37/177 गोपाल मन्दिर लेन
2. समराङ्गण सूत्राधार– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के0 37/117 गोपालमन्दिर लेन
3. भारतीय वास्तुविद्या के वैज्ञानिक आधार मान्यता प्रकाशन 60–C मायाकुंज मायाः दिल्ली
4. ऋग्वेद 4–30–20. 7–5–3, 2–41–5, 7–3–7, 3–43–6
5. मत्स्यपुराण गीताप्रेस गोरखपुर उत्तरप्रदेश।

6. अथर्ववेद गीताप्रेस गोरखपुर उत्तरप्रदेश।
7. शतपथ ब्राह्मंण राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली।
8. राजवल्लभ मण्डन– चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।
9. ज्योति र्निबिन्ध चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।
10. मुहुर्त चिन्तामणि– चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।
11. कल्पद्रुम भूमि लक्षणाध्याय चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।

इकाई 2 पुराणों में वास्तु

इकाई की संरचना

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- वास्तुशास्त्र के पौराणिक पृष्ठभूमि को बताने में समर्थ होंगे।
- कतिपय पुराणों में वर्णित वास्तु के स्वरूप को प्रकाशित करने में दक्ष होंगे।
- वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों को व्याख्यायित करने में कुशल होंगे।
- पुराणों में वर्णित भूमिचयन की विधि को विवेचित करने में समर्थ होंगे।
- पुराणों में वर्णित भूमि मापन की पद्धति को उद्घाटित करने में कुशल होंगे।
- विविध पुराणों के अनुसार द्विशाल गृह लक्षण को वर्णित करने में दक्ष होंगे।
- वास्तुविद्या के उद्देश्यों को प्रकाशित करने में कुशल होंगे।
- पुराणों में वर्णित वास्तु के प्रयोजनों को बताने में समर्थ होंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारतीय स्थापत्य और शिल्पशास्त्र की परम्परा गौरवशाली रही है। इसका अतीत जितना गौरवमण्डित रहा है, वर्तमान् उतना ही विकासमान और भविष्य उससे कहीं उज्ज्वल है। इस देश ने समय-समय पर अपनी संस्कृति के जितने आत्माभिमानी अध्यायों की रचना की है। वह परा- अपरा दोनों ही रूपों में अद्भुत और अविस्मरणीय है। पूरा देश ही किसी जीवन्त स्मारक से कम नहीं है। यहाँ कर्म का वैशिष्ट्य विचार रहा है। इसलिए इसे कर्मभूमि कहा है। अन्य सभी देश भोगभूमि हों लेकिन यह कर्मभूमि है, जहाँ जन्म की अभिलाषा देवताओं ने भी की है-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमर्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

यहाँ वास्तु को अद्भुत महत्व दिया गया है। ऋषियों की प्रज्ञा ने इसे इष्टापूर्त कर्म के रूप में स्वीकृत किया है और इसके लिए आवश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वेदों से लेकर परवर्ती पुराणों तक इससे सम्बन्धित कर्तव्यों का गुणगान किया और इसके नियमों का निरूपण किया। ऋग्वेद (7, 54, 3) के ऋषियों ने यही कामना की है कि हे वास्तोष्पते! हम आपसे सुखकर, रमणीय और ऐश्वर्ययुक्त स्थान प्राप्त करें। हमें प्राप्त और प्राप्त होने वाले धन-वैभव की आप रक्षा करें। हमें सदा कल्याणकारी साधनों-उपस्करों से सुरक्षित रखें। प्रस्तुत इकाई में आपलोग पुराणों में वर्णित वास्तु विद्या के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

2.2 वास्तुविद्या का सामान्य परिचय

मानव की तीन मूलभूत आवश्यकताएं भोजन,वस्त्र और मकान है। भवन का स्थान मानव जीवन के लिए अन्यतम है, क्योंकि हमारे संस्कृत शास्त्र में कहा गया है कि गृहस्थों की सभी क्रियाएँ गृह के बिना सफल नहीं होती। जैसा कि भविष्यपुराण में वर्णित है-

"गृहस्थस्य क्रियास्सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं विना"।

घर,भवन,मकान अथवा प्रासाद निर्माण करने की प्राचीनतम पद्धति को हम वास्तुशास्त्र के नाम से जानते हैं। भूमि पर अच्छी प्रकार से अपनी अनुकूलता के अनुसार निवास बनाने की प्रक्रिया को वास्तुविद्या कहते हैं। वास्तुग्रन्थों में कहा गया है कि पृथ्वी मुख्य वास्तु है, उस पर जो जन्म लेते हैं, उनके आश्रय हेतु जो भवन आदि बनाये जाते हैं, वे भी गौण वास्तु कहे जाते हैं। जैसा कि समरांगणसूत्रधार में उल्लिखित है -

भूरेव मुख्यं वास्तु तत्र जातानि यानिहि।
प्रासादादीनि वस्तूनि वस्तुत्वात् वास्तुसंश्रयात् ॥

वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र तथा स्थापत्यवेद इत्यादि 'वास्तुविद्या' के ही पर्याय हैं। अंग्रेजी भाषा में इसे Architecture कहा जाता है। अंग्रेजी भाषा का यह शब्द लगभग सोलहवीं शताब्दी में लैटिन भाषा के Architectura शब्द से लिया गया है। यह शब्द संस्कृत के 'आर्किदक्ष्तौर्य' शब्द का अपभ्रंश है। जो कि आर्कि + दक्ष् + तौर्य से बना है। संस्कृतभाषा में तौर्य का अर्थ शिल्प, चातुर्य, विद्या या कला आदि होता है। 'दक्ष' धातु का शाब्दिक अर्थ चतुराई प्रदर्शित करना तथा आर्कि' शब्द का अर्थ सूर्य पुत्र मनु होता है। यह शब्द देवशिल्पी त्वष्टा का भी द्योतक है, जिन्होंने भगवान् सूर्य को अपनी शिल्पकला द्वारा छोटा तथा सुन्दर बना दिया था, जिससे उनकी उग्रता में कमी आ गयी थी और वे भूवासियों के लिये सहन करने योग्य हो गये थे। अत एव जिस विद्या का प्रचार-प्रसार मनु के द्वारा मानवमात्र के कल्याण के लिये सूर्य की ऊर्जा का यथोचित समुपयोग करते हुए मानवों को इस अवनि पर बसाने में किया गया, उसे आर्किदक्ष्तौर्य' अर्थात् विवस्वान् मनु की निपुणता की विद्या कही गयी। संस्कृत के उपरोक्त शब्द से लैटिन भाषा तथा अंग्रेजी भाषा के ऊपर लिखे दोनों शब्द बने हुये हैं।

वास्तुशास्त्र का उद्गम वेदों से हुआ है। प्राचीन काल में इसे स्थापत्य वेद के नाम से जाना जाता था। स्थापत्य वेद या वास्तुशास्त्र, अथर्ववेद का एक उपवेद है। अनेक पुराणों जैसे

मत्स्यपुराण,अग्निपुराण, वायुपुराण इत्यादि में वास्तु के उल्लेख मिलते हैं। विश्वकर्मा और मय के साथ-साथ अट्ठारह आचार्य ऋषि जैसे प्रभु बृहस्पति, नारद, अत्रि इत्यादि वास्तु के मुख्य प्रवर्तक माने गए हैं। वास्तु विषय शास्त्रीय ग्रंथों जैसे मानसार, मयमतम्, समरांगणसूत्रधार, विश्वकर्माप्रकाश आदि ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। कोटिल्य के अर्धशास्त्र, भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, जैन एवं बौद्ध ग्रन्थ , तंत्र तथा वृहत् संहिता आदि ग्रंथों में वास्तु विषयक महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है। इस प्रकार वैदिक काल से लेकर आज तक हमारे देश में वास्तुशास्त्र के उद्भव एवं विकास की दृष्टि से पर्याप्त सामग्री मिलती है। वास्तुशास्त्र ज्ञान विज्ञान का प्राचीन शास्त्र है। वास्तुशास्त्र में सभी प्रकार के भूखण्ड निर्माण संरचनाएं और रचनात्मक ऊर्जा समाविष्ट है। जो शास्त्र भूमि और भवन में रहने वाले लोगों को अधिक सुख शान्ति सुरक्षा और समृद्ध होने के नियम, सिद्धान्तों तथा भविष्य का व्यवस्थित ज्ञान प्रदान करता है, वही वास्तुशास्त्र है। आजकल की जिन्दगी में तनाव और मुश्किलों के चलते तन, मन और जीवन में सन्तुलन बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तुशास्त्र जीवन के सन्तुलन के लिए भूमि एवं भवन के सन्तुलन का प्रतिपादन करता है। वास्तु के आधारभूत सिद्धान्तों में प्रमुख पंच तत्व पृथ्वी,जल, अग्नि, वायु एवं आकाश तत्वों से मिलकर ही सारी सृष्टि का निर्माण हुआ है। वास्तुशास्त्र आन्तरिक एवं बाह्य सन्तुलन स्थापित कर भवन में एक सामंजस्य स्थापित करता है। वास्तु सम्मत निर्मित मकान को ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की पूर्ति करने वाला घर में बदला जा सकता है।

2.3 वास्तुविद्या की पौराणिक पृष्ठभूमि

पुराणों में वास्तुशास्त्र के उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। जिसमें एक कथा इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है कि एक समय इस जगत् के जन्म हेतु कमल पर विराजित होने वाले ब्रह्माजी के पास यह पृथ्वी महाराज पृथु के भय से भ्रान्त और चकित हुई, घबराई हुई दर्शन करने को पहुँची। इसी प्रकार समस्त देवताओं के ईश्वर भगवान् ब्रह्माजी को साष्टांग प्रणाम करके उस भूतधात्री, प्राणीमात्र की माता, गौ रूपी पृथ्वी ने गद्गद होकर, रुन्धे गले से पितामह ब्रह्मा को निवेदन किया-

"हे भगवन् ! मैं इन महाराज पृथु के तेज से दु:खी होकर आपकी शरण प्राप्त कर रही हूँ, अतः आप मुझे इससे त्राण प्रदान कीजिये।" इस सन्दर्भ में वायुपुराण में वर्णन निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होता है-

वायुपुराण- वायुपुराणकार का मत है कि क्षत्रियों का अग्रज वेनपुत्र पृथु अपने तेज से जलते हुए की भाँति धनुष एवं कवच धारण किए हुए उत्पन्न हुआ था। उसने अपने अपार साहस से समस्त लोक की रक्षा की थी। राजसूय यज्ञ से अभिषिक्त राजाओं में सारी पृथ्वी का स्वामी वह पृथु ही सर्वप्रथम था। उसकी स्तुति के लिए सूत एवं मागध उत्पन्न हुए। पृथु ने वृत्ति की अभिलाषिणी प्रजाओं के लिए ऋषियों, देवताओं, पितरों, दानवों, गन्धर्वों, अप्सराओं, सभी पुण्यात्मा पुरुषों, वृक्षों और पर्वतों के समूहों के साथ गौ रूप धारिणी पृथ्वी से अन्न राशियों का दोहन किया। दोहन के समय पृथक् पृथक् पात्रों में दूही गई वसुन्धरा ने दुहने वाले को यथाभिलषित क्षीर प्रदान किया, जिसके द्वारा समस्त लोक की रक्षा सम्भव हो सकी-

वैन्यो नाम महीपालो यः पृथुः परिकीर्तितः।

स धन्वी कवची जातस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।
पृथुर्वैन्यः सर्वलोकान् ररक्ष क्षत्रपूर्वजः ॥

राजसूयाभिषिक्तानामाद्यः स वसुधाधिपः ।
तस्यस्तवार्थमुत्पन्नी निपुण सूतमागधौ ॥

तेनेयं गौर्महाराज्ञा दुग्धा सस्यानि धीमता ।
प्रजानां वृत्तिकामानां देवैर्ऋषिगणैः सह ॥

पितृभिर्दानवैश्चैव गन्धर्वैरप्सरोगणैः ।
सर्वं पुण्यजनैश्चैव वीरुद्भिः पर्वतैस्तथा ॥

तेषु तेषु पात्रेषु दुह्यमाना वसुन्धरा ।
प्रादाद्यथेप्सितं क्षीरं तेन लोकांस्त्वधारयत् ॥

(वायुपुराण 62, 95-100)

यह प्रसंग वायुपुराण में आया है कि अनासक्त भाव से समस्त जगत में सर्वदा विचरण करने वाली ब्रह्मचारिणी एवं परम सुन्दरी योगसिद्धा नामक बृहस्पति की भगिनी आठवें वसु प्रभास की भार्या हुई । उसके पुत्र शिल्पियों के प्रजापति (स्रष्टा) विश्वकर्मा हुए ।धर्म के पौत्र उदारबुद्धि विश्वकर्मा परम सुन्दर आकृति वाले हुए। देवताओं के सहस्रों शिल्पकर्मों को करने वाले तथा वास्तुविज्ञान के वेत्ता थे। उन्होंने समस्त देवताओं के विमानों की रचना की। उन्हीं परम महात्मा द्वारा प्रचलित शिल्पकर्म के आश्रय से मनुष्य लोग आज भी अपनी जीविका चलाते हैं । उन विश्वकर्मा की पत्नी विरोचना थी, जो प्रह्लादी नाम से भी विख्यात हुई, वह विरोचन की भगिनी और त्रिशिरा की माता थी । परम बुद्धिमान् विश्वकर्मा देवताओं में शिल्पकर्म के आचार्य थे । उनका पुत्र मय भी उसी प्रकार शिल्पकर्म में निपुण होने के कारण विश्वकर्मा के नाम से विख्यात हुआ । विश्वकर्मा की पुत्री सुरेणु नाम से ख्यात थी जो संज्ञा नाम से सूर्य की पत्नी हुई ।

बृहस्पतेर्या भगिनी वरस्त्री ब्रह्मचारिणी ।
योगसिद्धा जगत्कृत्स्नमसक्ता चरते सदा ॥

प्रभासस्य तु सा भार्या वसूनामष्टमस्य तु ।
विश्वकर्मा सुतस्तस्या जातः शिल्पप्रजापतिः ॥

त्वष्टा विराजा रूपाणां धर्मपौत्र उदारधीः ।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वास्तुकृत् ॥

यः सर्वेषां विमानानि देवतानां चकार ह ।
मानुषाश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः ॥

प्रह्लादी विश्रुता तस्य त्वष्टुः पत्नी विरोचना ।
विरोचनस्य भगिनी माता त्रिशिरसस्तु सा ॥
देवचार्यस्य महतो विश्वकर्माऽस्य धीमतः ।

विश्वकर्मात्मजश्चैव विश्वकर्मा मयः स्मृतः ॥
सुरेणुरिति विख्याता स्वसा तस्य यवीयसी।
त्वाष्ट्री सा सवितुर्भार्या पुनः संज्ञेति विश्रुता ॥
(वायुपुराण 84, 15-21)

मत्स्य पुराण- पुराणों में, विशेषकर जिन-जिन महापुराणों मे वास्तु विद्या के विवरण मिलते हैं उनका संक्षेप में यहाँ विवरण दिया जा रहा है। यहाँ पर अब हम मत्स्य को लेते हैं। इस पुराण में वास्तु विद्या पर लगभग आठ अध्याय हैं। २५ अध्याय में वास्तुविद्या के प्रसिद्ध प्राचीन अठारह आचार्यों पर प्रकाश डाला गया है। स्तम्भमान विनिर्णय - २५५ अध्याय में स्तम्भ पर विवेचन किया गया है। मत्स्य के अनुसार भवन निर्माण का प्रारम्भ स्तम्भ रचना से प्रारम्भ होना चाहिये। स्तम्भ सम्पूर्ण भवन की योजना एवं रचना का आधार है। स्तंभों को ५ प्रकार के वर्गों में वर्गीकृत किया गया है रुचक, वज्र, द्विवज्र, प्रलीनक तथा वृत्त। इस वर्गीकरण का आधार वास्तु का सौन्दर्य एवं उपयोगिता है। नवताल-लक्षण (२५८), पीठिका-लक्षण (२५२) लिङ्ग-लक्षण (२६१) इन तीनों अध्ययों में प्रस्तर-कला तथा मूर्ति-निर्माण पर विवेचन है। प्रासाद वर्णन (२६९),मण्डप लक्षण (२७०) – इन दो अध्यायों में प्रासाद वास्तु के विवरण मिलते हैं।

स्कन्दपुराण- इस पुराण के माहेश्वर खण्ड (द्वितीय भाग) तथा वैष्णव खण्ड (द्वितीय भाग) में वास्तु विद्या के वर्णन प्राप्त होते हैं। मत्स्य के अनन्तर स्कन्द अधिक प्राचीन है—ऐसा आचार्यों ने माना है। महानगर-स्थापन, स्वर्णशाला, रथनिर्माण, स्थपति-निर्देश, विवाह मण्डप, चित्र-कर्म आदि के जो विवरण मिलते हैं, उनमें वास्तु-विद्या के व्यापक विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। वास्तु-कर्म, शिल्प-कर्म का पर्याय हो गया है, अन्यथा रथ - निर्माण आदि तक्षक-कला से सम्बन्धित कर्म, वास्तु-कला (भवन-निर्माण-कला) में कैसे संचालित होते। प्राचीन परम्परा में वास्तु कला एवं पाषाण कला (मूर्ति निर्माण कला) का घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु चित्रकला का सम्बन्ध यहीं पर सर्वप्रथम देखने को मिलता है।

गरुड़ पुराण- इस पुराण की वास्तु-विद्या के चार अध्यायों में से दो अध्यायों में (४६-४७) सभी प्रकार के भवनों (मानव एवं दैव) तथा दुर्ग-निवेश एवं पुर-निवेश पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन मिलता है। गरुड़पुराण की अपनी विशेषता है। पुर- निवेश तथा उद्यान भवन (गार्डेन सिटीज़) साथ ही परम्परा के अनुरूप प्रासाद एवं प्रतिमा (४५ तथा ४८) पर भी सुन्दर विवेचन है।

अग्निपुराण- इस पुराण में वास्तु विद्या का बड़ा ही विस्तृत विवेचन है। जैसा कि अन्य पुराणों में प्राप्य है। इस पुराण में वास्तु पर सोलह (४२, ४३, ४४, ४५, ४६,४६, ५०, ५१, मे ५२, ५३, ५४, ५५, ६०, ६२, १०४ तथा १०६) अध्यायों में वास्तु विद्या के प्रायः सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में प्रधानता पाषाण कला (मूर्ति-निर्माण) की है, वास्तुकला पर केवल तीन अध्याय तथा मूर्ति निर्माण कला पर तेरह अध्याय है। आचार्यों के मत में अग्निपुराण का पुर निवेश (अध्याय १०६) वास्तुशास्त्र का एक विशिष्ट देन है। इसी प्रकार से अन्य पुराणों में भी वास्तु विद्या की प्रचुर सामग्री भरी है, जिसका विस्तार के भय से विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता है। संक्षेपत: पुराणों की वास्तुविद्या की निम्न रूपरेखा अंकित की जा सकती है, जो पूर्ण विकसित कही जा सकती है।

१.वास्तु विद्या के आचार्य,२.वास्तु शैलियाँ, ३. भवन-निवेश, ४. पुर-निवेश,५. दुर्ग-निवेश, ६.प्रासाद- सन्निवेश, ७. भवन- द्रव्य-दार्वाहरण, ८. स्तम्भ मान, ९. ताल मान, १०. प्रतिमा-

लक्षण, ११. दशावतार, १२. लिङ्ग, १३. पीठिका, १४. सभा, १५. मण्डप, १६.उद्यान भवन, १७.वापी – निर्माण, १८.कूप निर्माण, १९.शैल मंदिर, २०. चित्रकला इत्यादि।

2.4 पुराणों में वास्तु का स्वरूप

पुराणों में वास्तुशास्त्र के विभिन्न स्वरूपों का यथा स्थान उल्लेख प्राप्त होता है। कतिपय पुराणों जैसे-अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, नारद पुराण तथा वायु पुराण आदि में प्रासाद बनाने की विद्या बहुत ही सूक्ष्मता तथा स्पष्टता के साथ वर्णित है। अतः हम कह सकते हैं कि अत्यन्त पुरातनकाल से ही भारतवर्ष में वास्तुशास्त्र का ज्ञान प्रचलित रहा है । इस प्रकरण में गृहारम्भ से पूर्व शुभ मुहूर्त्तों का ज्ञान परमावश्यक है। सर्वप्रथम सभी कार्यो को त्यागकर स्तम्भारोपण करना चाहिए ऐसा पुराणों में वर्णन प्राप्त होता है। प्रासाद कूप, बावडियों में भी यही विधि मानी गयी है। चन्द्र और सूर्य के बल के साथ शुभ लग्न, मास, तिथि, वार,नक्षत्र,योग तथा करण के शुभाशुभत्व का निर्धारण मत्स्य पुराण में वर्णित है। भूमि का परीक्षण करने के बाद भवन का निर्माण करने की विधि बतलाई गई है। सर्वप्रथम बारह मासों में जो गृहारम्भ के शुभाशुभ फल का निरुपण करते हैं, का विचार करना चाहिए। चैत्र मास में व्याधि, वैशाख में गाय एवं विभिन्न रत्नों की प्राप्ति, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में नौकर, रत्न और पशु वर्ग की प्राप्ति, भाद्रपद में इनका क्षय, आश्विन में पत्नि मरण, कार्तिक में धन एवं धान्य की प्राप्ति, मार्गशीर्ष में रुचिकर भोजन, पौष में चोर-भय, माघ में विविध लाभ एवं अग्निभय, फ़ाल्गुन में सुवर्ण एवं पुत्र लाभ समझना चाहिए। नक्षत्र विभाजन क्रम से अश्विनी, रोहिणी, मूल, तीनों उत्तरा, मृगशिरा, हस्त, और अनुराधा गृहारम्भ में श्रेष्ठ हैं। रविवार और मंगलवार को त्यागकर शेष सभी वार शुभफलदायक है। गृहारम्भ में व्याघात, शूल, व्यतीपात, अतिगण्ड, विष्कुम्भ, गण्ड, परिघ और वज्र आदि योगों का त्याग करें। इसी प्रकार श्वेत मैत्र, माहेन्द्र, गान्धर्व, अभिजित, रौहिण, वैराज और सावित्र आदि मुहूर्त्त में गृहारम्भ करें। गृहारम्भ से पूर्व भूमि परीक्षण करना चाहिए।

दिशाओं के अनुसार कौन सी दिशा की भूमि उपयुक्त होती है, इस सन्दर्भ में कहा गया है कि यदि पूर्व, ईशान, उत्तर अथवा सब ओर नीची और मध्य में ऊँची भूमि हो तो वह प्रशस्त मानी गयी है। एक हस्त गहराई तक खोदकर निकाली गई मिट्टी यदि फिर से उस गड्ढे में डाली जाने पर अधिक हो जाय तो वहाँ की भूमि को उत्तम समझना चाहिये। अथवा जल आदि से उसकी परीक्षा करें। हड्डी और कोपले आदि से दूषित भूमि का शोधन खोदकर, गायों को ठहराकर या बार-बार जोतकर करना चाहिये-

पूर्वेशोत्तरसर्वत्र पूर्वा चैषां विशिष्यते।
आखाते हास्तिके यस्याः पूर्णे मृदधिका भवेत् ॥

उत्तमां तां महीं विद्यात्तोयाद्यैर्वा समुक्षिताम्।
अस्थ्यङ्गारादिभिर्दुष्टामत्यन्तं शोधयेद् गुरुः॥

नगरग्रामदुर्गार्थं गृहप्रासादकारणम् ।
खननैर्गोकुलावासैः कर्षणैर्वा मुहुर्मुहुः॥
(अग्निपुराण,९२/६-७)

मत्स्य पुराण में दुर्गादि के निवेश के लिए भूमि की परीक्षा इस प्रकार बताई गई है- जहाँ निरन्तर

सुगन्धित सहित,स्वादिष्ट, शीतल, सुन्दर कोपलों, अंकुरों से धान्य को उत्पन्न करने वाले खेत हों और वे सीमान्त पर बाड़ आदि से पूरी तरह रक्षित हो, जो भूमि कंकड़, पत्थरों और डिंक्क की बाँबियों से पूरी तरह रहित, निष्कंटक हो, पर्याप्त रूप से जौ का उत्पादन करने वाली और ईंधन युक्त हो और खेतों की सीमान्त पर विभाजित गोचर भूमि से शोभायमान हो। इसी प्रकार जो भूमि लहलहाती घास के सागर के सादृश्य और उसके अन्तराल में चारों ओर स्वादिष्ट, शीतल जल की प्राप्ति के कारण प्रशंसित हो, जो दुष्ट जनों से कभी पादाक्रान्त नहीं होती हो, जहाँ पर नाना प्रकार के गृह बसाये गए हों और जहाँ संरभ या हड़बड़ी या क्षोभजन्य त्रास नहीं हो और मन को प्रसन्नता की प्रतीति होती हो। जैसे-

राजा सहायसंयुक्तः प्रभूतयवसेन्धनम्।
रम्यमानतसामन्तं मध्यमं देशमावसेत्॥

(मत्स्य पुराण,२१७/१-५)

भूमि-मापन - वायुपुराण का मत है कि जब छोटे गाँव पुर, अन्तःपुर, हर्म्य-भवनादि बनाए जाने लगे तो उनकी लम्बाई- चौड़ाई को यथाबुद्धि तय किया गया। उनके दीर्घ-प्रस्थ आदि परिमाण के लिए अङ्गुल के माप द्वारा निर्धारित किए गए। इनका प्रमाण भी दिया गया है। जैसे- दस अंगुल पर्वों का एक प्रदेश कहा गया है। अंगुष्ठ से लेकर तर्जनी तक के विस्तार परिमाण की संज्ञा प्रादेश है। मध्यमा अंगुल पर्यन्त ताल होता है। गोकर्ण अनामिका के अन्त तक परिमाण को गोकर्ण कहा गया है। वित्ता या वितस्ति के लिए कनिष्ठा के अन्त तक का परिमाण होता है। इसका परिमाण बारह अङ्गुल तक होता है। सामान्यतया इक्कीस अंगुलियों के पर्वों का प्रमाण रत्नी होता है। चौबीस अङ्गुलियों के पर्वो का हस्त प्रमाण कहा गया है। दो रत्नियों अर्थात् 42 अङ्गुलियों का प्रमाण किष्कु कहा जाता है। चार हाथ के प्रमाण को धनु दण्ड या नालिका युग कहा जाता है। दो हजार धनुओं के प्रमाण से एक गव्यूति और आठ हजार धनुओं का एक योजन प्रमाण कहा गया है-

दश त्वङ्गुलपर्वाणि प्रदेशः संज्ञितस्तु तैः॥

अष्टकुल प्रदेशिन्या व्यासः प्रादेश उच्यते।
तालः स्मृतो मध्यमा गोकर्णश्चाप्यनामया॥

कनिष्ठया वितस्तिस्तु द्वादशाङ्गुल उच्यते।
रत्निरङ्गुलपर्वाणि संख्या त्वेकविंशतिः॥

चतुर्विंशतिभिश्चैव हस्तः स्यादङ्गुलानि तु।
किष्कुः स्मृतो द्विरत्निस्तु द्विचत्वारिंशदङ्गुलम्॥

चतुर्हस्तं धनुर्दण्डो नालिकायुगमेव च।
धनुःसहस्रे द्वे तत्र गव्यूतिस्तैर्विभाव्यते॥

अष्टो धनुः सहस्राणि योजनं तैनिरुच्यते।
एतेन योजनेनैव संनिवेशस्ततः कृतः॥

(वायु. 8, 99-107)

वायपुराण में यह संख्या अष्टविंशति रूप में कही गई है। इकाई से लेकर अनन्त तक संख्याओं का ज्ञान परार्ध और पर नाम से कहा गया है। इसमें इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार तक और इसके बाद 10 सहस्र को एक अयुत कहा गया। सौ सहस्र का एक नियुत होता है। दस सौ सहस्र या दस नियुत की एक कोटि, दस कोटि का एक अर्बुद, सौ कोटि का एक पद्म माना गया है। एक सहस्र कोटि का खर्व, दस सहस्र कोटि का निखर्व, सौ सहस्र कोटि का एक शङ्कु माना जाता था। हजार-हजार कोटि को पुनः दस बार गुणित करने पर समुद्र नाम से जाना जाता है। अयुत कोटि का एक मध्य, हजार नियुत कोटि का एक अन्त एवं हजार कोटि का एक परार्द्ध होता है। दो परार्द्ध की एक संख्या मानी गयी है। सौ संख्या को परिदृढ़ एवं हजार को परिषद्मक कहा गया है। इसके बाद अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, स्यर्बुद, खर्व, निखर्व, शङ्कु, पद्म, समुद्र, मध्यम परार्द्ध एवं पर आदि कुल अठारह संख्याएँ मानी गई हैं-

एक दशं शतं चैव सहस्रं चैव संख्यया ॥
विज्ञेयमासहस्रं तु सहस्राणि दशायुतम् ।
एकं शतसहस्रं तु नियुतं प्रोच्यते बुधैः ॥
तथा शतसहस्राणामर्बुदं कोटिरुच्यते ।
अर्बुदं दशकोट्यस्तु अब्जं कोटिशतं विदुः ॥
सहस्रमपि कोटीनां खर्वमाहुर्मनीषिणः ।
दशकोटिसहस्राणि निखर्वमिति तं विदुः ॥
शतं कोटिसहस्राणां शङ्कुरित्यभिधीयते ।
सहस्रं तु सहस्राणां कोटीनां दशधा पुनः ॥
गुणितानि समुद्रं वै प्राहुः संख्याविदो जनाः ।
कोटीनां सहस्रमयुतमित्ययं मध्य उच्यते ।
कोटिसहस्रनियुता स चान्त इति संज्ञितः ॥
कोटिकोटिसहस्राणि परार्ध इति किर्त्यते ।
परार्धं द्विगुणं चापि परमाहुर्मनीषिणः ॥
शतमाहुः परिदृढं सहस्रं परिपद्मकम् ।
विज्ञेयमयुतं तस्मान्नियुतं प्रयुतं ततः ॥
अर्बुदं न्यर्बुदं स्वर्बुदं च ततः स्मृतम् ।
खर्वं चैव निखर्वं च शङ्कं पद्मं तथैव च ॥
समुद्रं मध्यमं चैव परार्धमपरं ततः ।
एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणनाविधौ ॥

(वायुपुराण 101, 93-102)

अमोघवर्ष के शासनकाल में हुए महावीराचार्य (850 ई.) ने इकाई से महाक्षोभ तक गणना की विधि इस प्रकार कही है-

एकं तु प्रथमस्थानं द्वितीयं दशसंज्ञिकम् ।
तृतीयं शतमित्याहुः चतुर्थं तु सहस्रकम् ॥
पञ्चमं दशसाहस्रं षष्ठं स्याल्लक्षमेव च ।
सप्तमं दशलक्षं तु अष्टमं कोटिरुच्यते ॥
नवमं दशकोट्यस्तु दशमं शतकोटयः ।
अर्बुदं रुद्रसंयुक्त न्यर्बुदं द्वादशं भवेत् ॥

खर्वं त्रयोदशस्थानं महाखर्वं चतुर्दशम् ।
पद्मं पञ्चदशं चैव महापद्मं तु षोडशम् ॥
क्षोणी सप्तदशं चैव महाक्षोणी दशाष्टकम् ।
शङ्खं नवदर्श स्थान महाशङ्खं तु विंशकम् ॥
क्षित्यैकविंशतिस्थानं महाक्षित्या द्विविंशकम् ।
त्रिविंशकं क्षोभं महाक्षोभं चतुर्नयम् ॥
(गणितसारसंग्रह, सोलापुर, 1963,1,63-68)

राजप्रासाद निर्माण विधि

पुराणों का सम्यक् अवलोकन के उपरान्त इस विधि में सर्वप्रथम चतुः शाल,त्रिशाल, द्विशाल आदि भवनों के लक्षण, स्वरूप, भेद एवं उनके विशिष्ट नामों का वर्णन मिलता है। मत्स्य पुराण में पाँच-पाँच प्रकार के राजभवन, युवराजभवन, सेनानायकभवन, मन्त्रिभवन, सामन्तप्रासाद, छोटे राजा, और अमात्य, शिल्पकार, कंचुकी, वेश्या, दैवज्ञ, गुरु, वैद्य, सभापति, पुरोहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्यों इत्यादि के भवनों के लक्षण एवं भेद वर्णित है। चतुः शाल चारों ओर से भवन, द्वार तथा बरामदों से युक्त हो वह 'सर्वतोभद्र' नाम से जाना जाता है। यह देवप्रासाद एवं राजप्रासाद दोनों के लिए सर्वोत्तम एवं मंगलकारक होता है। यदि वह चतुःशाल पश्चिम द्वार से विहीन हो तो 'नन्द्यावर्त', दक्षिण द्वार से हीन हो तो 'वर्धमान 'पूर्वद्वार से हीन हो तो 'स्वस्तिक', उत्तर द्वार से रहित हो तो 'रुचक' नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार से उत्तर दिशा की शाला से विहीन जो त्रिशाल भवन को 'धान्यक' कहा जाता है। वह प्राणियों के लिए कल्याण, वृद्धि, पुत्र लाभकारक होता है। पूर्व की शाला से रहित त्रिशाल भवन को 'सुक्षेत्र' कहते है। वह भवन धन, यश और आयु प्रदाता तथा शोक मोह का विनाश होता. है। जो दक्षिण की शाला से रहित हो उसे 'विशाल' कहा जाता है वह प्राणियों के वंश का नाश, व्याधि और भय प्रदान करने वाला होता है। जो त्रिशाल पश्चिम शाला से विहीन हो उसे 'पक्षघ्न' कहते हैं, वह मित्र, बन्धु और पुत्रों का नाश एवं भयकारक होता है। दक्षिण एवं पश्चिम शालाओं से युक्त द्विशाल भवन को 'धनधान्यप्रद' कहा जाता है। वह मानवों के लिये कल्याण वर्धक तथा पुत्रप्रद होता है। पश्चिम और उत्तर शाला वाले द्विशाल भवन को 'यमसूर्य' कहा जाता है, वह मनुष्यों के लिए नृप भय एवं अग्नि भयकारक और वंश विनाशक होता है। जिस द्विशाल भवन में पूर्व और उत्तर की दो शालाएं हो उसे 'दण्ड' कहा जाता है। वह अकाल मृत्यु तथा शत्रुभयकारक होता है। पूर्व-दक्षिण की शालाओं से युक्त द्विशाल भवन को 'धन' कहते हैं। वह शस्त्रभय तथा पराजय भयदायक होता है। पूर्व पश्चिम की शालाओं युक्त द्विशाल भवन 'चुल्ली' कहलाता है। वह मृत्यु सूचक, महिलाओं के लिए विधवा योग एवं भयकारक होता है। उत्तर-दक्षिण की शालाओं युक्त द्विशाल भवन सर्वथा भयदायक है अतः इस प्रकार के द्विशाल भवन ग्राह्य नहीं है। उत्तमादि भेद से राजप्रासाद 5 प्रकार के होते हैं। 108 हाथ विस्तार वाला राजप्रासाद सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अन्य चार प्रकार के भवनों में विस्तार क्रमशः 8-8 हाथ कम करना चाहिए। परन्तु पाँचों प्रकार के भवनों में लम्बाई विस्तार के चतुर्थांश से अधिक होती है। युवराज के पाँच प्रकार के उत्तमादि भवनों में सर्वप्रथम उत्तम प्रसाद की चौड़ाई 80 हाथ की होती है। और अन्य चार प्रासादों की चौड़ाई 6-6 हाथ कम होती जाती है। उत्तमादि पांच प्रासादों की लम्बाई चौड़ाई से एक तिहाई अधिक बताई गई है। इस प्रकार सेनापति के उत्तमादि पांच प्रसाद में उत्तम प्रासाद की चौड़ाई 64 हाथ ही होती है। अन्य चार भवनों की

चौड़ाई क्रमश: 6-6 हाथ कम करनी चाहिए। उपर्युक्त पाँच प्रासादों की लम्बाई चौड़ाई के पष्ठांश से अधिक होनी चाहिए। पांच प्रकार के मन्त्रियों के उत्तमादि प्रासादों में सर्वप्रथम उत्तम प्रासाद का विस्तार 60 हाथ का होना चाहिए। अन्य चार प्रासादों का क्रमशः 4-4 हाथ कम होते हैं। इन पांच प्रासादों की लम्बाई चौड़ाई के अष्टांश से अधिक मानी गई है। सामन्त, अमात्य आदि के पांच प्रकार के प्रासादों में उत्तम प्रासाद की चौड़ाई 48 हाथ एवं अन्य चार प्रासादों की चौड़ाई क्रमशः चार-चार हाथ कम होती है। इन पांच भवनों की लम्बाई चौड़ाई की तुलना में सवाया अधिक बताई गई है।

द्विशाल गृह लक्षण - पुराण व संहिता ग्रन्थों में इन गृहों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। अपराजितपृच्छा का 94 वाँ अध्याय भी इसी पर आधारित है। विश्वकर्मा जय से बोले द्विशाल भवन बावन प्रकार के होते हैं। इनमें शुभ और अशुभ सभी प्रकार आ जाते हैं। इन सबके लक्षणों को यहाँ क्रमवार कहता हूँ।

सिद्धार्थं यमसूर्यं च दण्डाख्यं वातसञ्ज्ञितम्।
चुल्ली काचं च मुख्यानि द्विशालानि षडैव हि॥

इन मुख्य द्विशाल गृहों की संख्या छह हैं। इन गृहों के नाम हैं- 1. सिद्धार्थ, 2. यमसूर्य, 3. दण्ड, 4. वात, 5. चुल्ली व 6. कांच। मत्स्यपुराणकार का मत है कि दक्षिण-पश्चिम दो शालाओं से युक्त भवन को धन-धान्यप्रद (सिद्धार्थ) कहा जाता है, यह मनुष्यों के लिए कल्याणकारी, पुत्रप्रद होता है। पश्चिम-उत्तरशाला वाला भवन यमसूर्य कहा है जो मनुष्यों के लिए राजा और अग्निभयकारी तथा कुल विनाशक होता है। जिस भवन में केवल पूर्व-उत्तर की ही दो शालाएँ हों, वह दण्ड कहलाता है। यह अकालमृत्यु व शत्रुपक्ष से भयोत्पादक होता है। पूर्व-दक्षिण की शालाओं से युक्त द्विशालभवन धन कहलाता है। यह शस्त्र व पराजय का भय देने वाला है। केवल पूर्व-पश्चिम की ओर बना हुआ चुली संज्ञक द्विशाल भवन मृत्युसूचक, शोककारक होता है। केवल उत्तर-दक्षिण की शाला वाला द्विशालभवन भयकारी होता है अतः उसे नहीं बनवाए-

याम्यापराभ्यां शालाभ्यां धनधान्य फलप्रदम्॥

क्षेमवृद्धिकरं नृणां तथा पुत्रफलप्रदम्।
यमसूर्यं च विज्ञेयं पश्चिमोत्तरशालकम्॥

राजाग्निभयदं नृणां कुलक्षयकरं च यत्।
उदक्पूर्वे तु शाले दण्डाख्ये यत्र तद्भवेत्॥

अकालमृत्युभयदं परचक्रभयावहम्।
धनाख्यं पूर्वयाम्याभ्यां शालाभ्यां यद् शालकम्॥

तच्छत्रभयदं नृणां पराभव भयावहम्।
चुली पूर्वापराभ्यां तु सा भवेन्मृत्युसूचनी॥

वैधव्यदायकं स्त्रीणामनेकभयकारकम्।
कार्यमुत्तरयाम्याभ्यां शालाभ्यां भयदं नृणाम्॥
सिद्धार्थवज्रवर्याणि द्विशालानि सदा बुधैः।

(मत्स्य 254, 8-14)

श्रीमद्भागवत महापुराण में देवताओं के शिल्पकार विश्वकर्मा की कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है, इस विषय में देवशिल्पी विश्वकर्मा द्वारा भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण के आदेशानुसार समुद्र के अन्दर द्वारकापुरी नामक अत्यन्त दुर्गम नगर के निर्माण का वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें सभी वस्तुएँ विलक्षण थीं और जिसकी लम्बाई-चौड़ाई अड़तालिस कोस की थी। उस नगर की एक-एक वस्तु में विश्वकर्मा का वास्तुकला और शिल्पकला का नैपुण्य प्रकट होता था। उसमें वास्तु के अनुसार बड़ी-बड़ी सड़कों, चौराहों और गलियों का यथा स्थान ठीक-ठीक विभाजन किया गया था । जैसे-

इति सम्मन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम्।
अन्तः समुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत्॥

दृश्यते यत्र त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम्।
रथ्या चत्वर वीथिभिर्यथावास्तु विनिर्मितम्॥

वास्तुशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य

जिस प्रकार ज्योतिषशास्त्र के अट्ठारह प्रवर्तकों का उल्लेख प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार से मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र के अट्ठारह आचार्यों का नामोल्लेख के साथ-साथ वास्तु पुरुष की उत्पत्ति का विवरण प्राप्त होता है। जैसे-

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ।।8

ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्र बृहस्पतिः ।।9

अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।
संक्षेपेण उपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरूपिणा ।।10

इसका आशय है- भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, इन्द्र, ब्रह्मा, कुमार (कार्तिकेय), नन्दीश्वर, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्राचार्य और बृहस्पति- ये अट्ठारह वास्तुशास्त्र के उपदेशक आचार्य हैं। उपरोक्त अट्ठारह आचार्यों में से वैवस्वत मनु को प्रलयकाल में ही अत्यन्त संक्षेप में मत्स्यावतारी भगवान् ने वास्तुविद्या का उपदेश दिया था। प्रसङ्गवसात् उपरोक्त प्रवर्तक वास्तुशास्त्रियों का ऐतिहासिक परिचय अत्यावश्यक है। अतः संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है-

भृगु- शुक्राचार्य के पिता भृगुवारुणि थे, ये प्रकाण्ड विद्वान् तथा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे। इनका विवाह हिरण्यकशिपु की पुत्री दिव्या से हुई थी। ये ज्योतिषशास्त्र के भी मूर्धन्य विद्वान् थे।

अत्रि- अत्रिवारुणि इनका पूरा नाम था, ये वरुण देव के तृतीय पुत्र थे। ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य के रूप में भी इनकी ख्याति है।

वसिष्ठ- ये पराशर के पिता थे। इन्हें शक्तिवशिष्ठ के नाम से भी जानते हैं। इनके सम्बन्ध सुदास ऐक्ष्वाक से मधुर थे। ये बाईसवें व्यास थे। जब इनका संघर्ष कल्माषपाद से हुआ तो

उसने इन्हें जला दिया था। कल्मषपाद को ही सौदास भी कहते हैं।

विश्वकर्मा- ये शुक्राचार्य के पुत्र थे, इन्हीं को त्वष्टा भी कहा जाता है। इन्होंने वास्तु और ज्योतिष का ज्ञान अपने पिता से प्राप्त किया था। बृहद्रथ से भी इन्हें कुछ ज्ञान मिला था। इन्द्र ने इनका वध किया था। इनकी माता का नाम 'गौ'था,जो कि सोमप नामक पितृगणों की पुत्री थीं। इनके तीन भाई थे। जिनके नाम क्रमशः वरुत्री, शण्ड तथा मर्क है।

मय- विश्वकर्मा के तृतीय पुत्र मय था। इनकी छोटी बहिन 'सरण्यू' का विवाह विवस्वान् से हुई थी। सूर्यसिद्धान्त में यह प्रसङ्ग आता है कि मय को सम्पूर्ण ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान विवस्वान् से ही प्राप्त हुआ था। सम्प्रति अमरीका महाद्वीप में जिस मय सभ्यता का उल्लेख मिलता है, वह इसी मय जाति की सभ्यता थी। इनके कुल में अनेक शास्त्रज्ञ हुए, जिन्हें 'मय' नाम से जाना जाता रहा है। हमारे धार्मिक ग्रन्थ महाभारत एवं रामायण में यह वर्णन मिलता है कि मय अलग-अलग व्यक्ति थे तथा उन्हें अपनी तपश्चर्या से इस शास्त्र का ज्ञान परम्परा से प्राप्त था। एक अन्य प्रसङ्ग में यह उल्लिखित है कि राक्षसराज रावण का श्वसुर मय तथा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में यज्ञभूमि तथा उसकाल में अन्य महलों को निर्मित करने वाले मय भिन्न-भिन्न थे, परन्तु पण्डित भगवदत्त जी के अनुसार वे अलग-अलग नहीं प्रत्युत एक ही थे।

नारद- देवर्षि नारद के विषय में हरिवंशपुराण में एक प्रसङ्ग प्राप्त होता है कि वे पूर्व जन्म में परमेष्ठी प्रजापति के पुत्र थे। तदुपरान्त वे दक्ष प्रजापति के पुत्र के रूप में जन्म लिए। इन्हें कश्यप पुत्र भी कहा जाता है। जिस प्रकार देवर्षि नारद का जन्म एक पहेली है, उसी प्रकार उनकी दीर्घायु तथा बहुमुखी प्रतिभा भी एक पहेली है। ये ज्योतिषशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, वास्तुशास्त्र, संगीत, दर्शनशास्त्र इत्यादि अनेक विषयों एवं विद्याओं के मर्मज्ञ थे। जैसे-

यं कश्यपं सुतवरं परमेष्ठी व्यजीजनत्।
दक्षस्य दुहितरिदक्षशापभयान्मुनिः॥

महाभारत के अनुसार पर्वत नामक ऋषि इनके भाँजे थे। जैसा कि वर्णन मिलता है-

'नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः'।

नग्नजित्- इतिहास एवं पुराणों के आलोडन से यह ज्ञात होता है कि नग्नजित् गन्धार नरेश थे। इनका काल महाभारत युद्ध के दो सहस्राब्दी पूर्व अथवा ईस्वी सन् के पाँच सहस्राब्दी पूर्व था। ये आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य चरक एवं भेल के गुरु पुनर्वसु आत्रेय के समकालीन थे।

विशालाक्ष- भगवान् शिव का ही दूसरा नाम विशालाक्ष है। इनका समय निर्धारण अप्राप्य है, परन्तु ये सभी विद्याओं के प्रवर्तक माने जाते हैं।

इन्द्र- इन्द्र सप्तमयुगीन व्यास के रूप में जाने जाते थे। इनके पिता प्रजापति परमेष्ठी कश्यप थे। ये सभी देवताओं में छोटे थे। इनका बचपन का नाम शक्र था। इनके गुरु वैवस्वत यम थे, जिनसे इन्होंने इतिहास-पुराण आदि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने कई गुरुओं से विभिन्न प्रकार की विद्याएँ सीखी थीं। आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण, वास्तुशास्त्र आदि अनेक विषयों के मर्मज्ञ विद्वान् थे।

ब्रह्मा – इनका कालनिर्धारण अशक्य है; इक्कीस प्रजापतियों को ब्रह्मा नाम से जाना जाता है। ये भी अनेक विद्याओं, शास्त्रों तथा वेदादि के प्रतिष्ठित व्यास माने जाते हैं।

कुमार- स्कन्द एवं कार्तिकेय इनका अन्य नाम भी था। रुद्र नीललोहित शिव के पुत्र के रूप में

हमारे शास्त्रों में वर्णन प्राप्त होता है। जैसे-

अपत्यं कृत्तिकानान्तु कार्तिकेय इति स्मृतः।
स्कन्दः सनत्कुमारश्च सृष्टः पादेन तेजसः॥

नन्दीश्वर— ये भगवान् श्रीशङ्करजी के प्रमुखतम शिष्य एवं अनुचर थे, इन्होंने अनेक प्रकार के तन्त्रों तथा विद्याओं का ज्ञान भगवान् श्रीशंकर जी से ही प्राप्त किया था। पर्वतीय क्षेत्रों में भवन बनाने की कला में इन्हें विशेष योग्यता प्राप्त थी।

शौनक – ऋषि शुनक के पुत्रगण शौनक कहे जाते हैं।

गर्ग- इनका काल आज से पाँच सहस्राब्दियों पूर्व माना जाता है। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के अनुसार ये यदुवंशियों के पुरोहित थे। इन्हें भी ज्योतिषादि अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त था। जैसे-

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां तु महातपाः।
ज्योतिषामयनं साक्षाद् तत्तद्ज्ञानमतीन्द्रियम्।
प्रणीतं भवता येन पुमान् वेदपरावरम्॥

वासुदेव- वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य के रूप में वासुदेव थे, जिन्हें हम भगवान् श्रीकृष्ण के नाम से जानते हैं। वसुदेव के पुत्र होने से इन्हें वासुदेव भी कहा जाता था। इनके गुरु सान्दीपनि जी थे। इन्होंने अपने गुरु के आश्रम में सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया था। वास्तुशास्त्र का रहस्यमयी ज्ञान को इन्होंने विश्वकर्मा के पुत्र मय से प्राप्त किया था। इसका उल्लेख 'विश्वकर्मप्रकाश' में भी किया गया है। जैसे-

स विश्वकर्मा जगतीहितायाकथयत् पुनः।
वासुदेवादिषु पुनर्भूलोके भक्तितोऽब्रवीत्॥

अनिरुद्ध – ये भगवान् श्रीकृष्ण के पौत्र थे। इनके पिता प्रद्युम्न थे। ये महाभारत के युद्ध के कुछ काल के बाद तक जीवित थे। इनमें यह विशेषता थी कि कोई भी योद्धा कितना ही बलशाली हो अपने हाथों से पकड़ नहीं सकता था और न ही उन्हें कैद किया जा सकता था, इसीलिये उनका नाम अनिरुद्ध पड़ गया था।

शुक्राचार्य – शुक्राचार्य जी को उशना, काव्य तथा भार्गव के नाम से भी जाना जाता था। दैत्यराज हिरण्यकशिपु के शासनकाल में ही इनका जन्म हुआ था। कई वर्षों तक ये जीवित थे। वायुपुराण में वर्णित है कि ये भृगुवंशियों के शासक भी बनाये गये थे। जैसे-

भृगूणामधिपञ्चैव काव्यं राज्येऽभ्यषेचयत्।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि कवियों अर्थात् त्रिकालदर्शियों में मैं शुक्राचार्य हूँ – 'कवीनामुशनाकविः'।

शुक्राचार्य अनेक विद्याओं एवं ज्ञान-विज्ञानों में निष्णात थे। इन्हें तृतीय वेदव्यास के रूप में भी जानते हैं। शुक्रनीति इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। ज्योतिषशास्त्र के ग्रंथों में उनके नाम के अनेक उद्धरण मिलते हैं। एक श्रेष्ठ वास्तुविद् के रूप में भी इनकी ख्याति थी। काव्यमाला नामक ग्रन्थ जो अरबीभाषा तथा हिब्रू भाषाओं में किसी काल में ज्योतिष एवं सामुद्रिक ज्ञान के लिये पूरे

यूरोप में प्रतिष्ठित था। पारसी का प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ जेन्दाअवेस्ता (छन्दावस्था) इन्हीं की कृति है। ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि हैं। अथर्ववेद के अनेक सूक्त शुक्राचार्य के नाम से हैं। ये आयुर्वेद के भी कर्ता थे। सुश्रुत संहिता तथा अष्टांगहृदय में इनके विष नाशक औषधि प्रयोगों का समुल्लेख प्राप्त होता है।

वृहस्पति- इनका दूसरा नाम वृहस्पति अंगिरस भी है। वृहस्पति देवताओं के पुरोहित थे। वेद का अध्ययन इन्होंने ब्रह्मा कश्यप तथा पुराणों का अध्ययन शुक्राचार्य से किया था। शुक्राचार्य की तामसी वृत्ति होने के कारण इनमें आपसी मतभेद था। इनके शिष्य विवस्वान् तथा इन्द्र थे। बृहस्पति का राजा उपरिचरवसु यजमान तथा शिष्य था। ये चौथे वेदव्यास कहे जाते हैं, जिन्होंने वेदमन्त्रों के साथ व्याकरण,अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण तथा वास्तुशास्त्र की रचना की थी।

2.5 सारांश

हिन्दू-संस्कृति बहुत विलक्षण है। इसके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक है और उनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य मात्र का कल्याण करना है। मनुष्य मात्र का सुगमता से एवं शीघ्रता से कल्याण कैसे हो ? इसका जितना गम्भीर विचार हिन्दू-संस्कृति में किया गया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों के सम्पर्क में आ जाता है और जो-जो क्रियाएँ करता है, उन सबको हमारे पौराणिक ऋषि-मुनियों ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से सुनियोजित, मर्यादित एवं सुसंस्कृत किया है और उनक सबका पर्यवसान परमश्रेय की प्राप्ति में किया है। इतना ही नहीं मुनष्य अपने निवास के लिए गृह निर्माण करता है तो उसको भी वास्तुशास्त्र के द्वारा मर्यादित किया है। पुराणों एवं वास्तुशास्त्रों का प्रमुख उद्देश्य भी मनुष्य को कल्याण मार्ग में लगाना है-

"वास्तुशास्त्रं प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया"

शास्त्र की मर्यादा का पालन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण में ही कल्याण की इच्छा जाग्रत होती है। वास्तुविद्या बहुत प्राचीन विद्या है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी उल्लेख मिलता है। इस विद्या के अधिकांश ग्रन्थ लुप्त हो चुके है और जो उपलब्ध विषय हैं,उसमें भी परस्पर मतभेद है। वास्तुविद्या के पौराणिक और वैदिकशास्त्रों में जो उल्लेख है प्राप्त होते हैं, वे क्रमशः - वास्तुविद्या में गृहवास्तु,प्रासादवास्तु, नगरवास्तु,पुरावास्तु,दुर्गवास्तु आदि भेद हैं। प्रस्तुत इकाई में प्राचीन पुराणादि ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन जो उपलब्ध है तथा वास्तुशास्त्र की दृष्टि से गृहरचना का विधान किस प्रकार से किया जाता था उनका विस्तार से विवेचन किया गया है। इसमें वास्तुशास्त्र के अनुसार हितोपयोगी गृह किस तरह निर्मित होते थे, उनका विस्तृत विवेचन किया गया है। गृहनिर्माण हेतु भूमिचयन भूमिपरीक्षा, भूमि के प्रकार, भूमि की दिशाएं, महत्त्व, फल, मुहूर्त, शिलान्यास विधि,आयदि निर्णय, गृह के महत्वपूर्ण अंग, गृह में मंदिर तथा गृह मांगलिक गृहनिर्माण योजना,शुभ-अशुभ और शान्ति को ध्यान में रखकर पुराणकारों ने सर्वदा इसी प्रकार की व्यवस्थाऐं दी हैं। उन्हीं के आलोक में गृहों की निर्माण कला पर प्रकाश डालने की अभिलाषा की गई है। इस अध्ययन से मांगलिक गृह निर्माणों के लिए मार्ग प्रशस्त किया जा सकेगा, जो विशुद्ध भारत प्राचीन तकनीकी विद्या को प्रकाशित करेंगे।

2.6 शब्दावली

प्रासाद – भवन।

भू – भूमि।

योजन – वैदिक काल में लम्बाई मापन की इकाई थी। सूर्यसिद्धान्त में 1 योजन को 8 किलोमीटर के बराबर माना गया है। आर्यभट्ट ने 1 योजन को 8 मील के बराबर माना है।

गव्यूति - वैदिक काल में लम्बाई मापन की इकाई थी। 1 गव्यूति = 2000

धनुष। चार गव्यूति एक योजन के बराबर होता है। 2 धनुष = 1 नाडिका।

हस्त = 1 धनुष या दण्ड।

2.7 अभ्यास प्रश्न

1. पुराण में वर्णित वास्तुशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्यों का उल्लेख कीजिये।
2. वास्तुशास्त्र के पौराणिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिये।
3. वायुपुराण में वर्णित वास्तु के स्वरूप को प्रकाशित कीजिये।
4. पुराणों के अनुसार भूमिचयन की विधि को वर्णित कीजिये।
5. राजप्रासाद निर्माण विधि पर निबन्ध लिखिये।
6. द्विशाल गृहलक्षण को विस्तार से प्रतिपादित कीजिये।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, कृष्णदत्त वाजपेयी,हिन्दी समिति, हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, 1972।
2. समरांगणसूत्रधार, अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू एवं प्रो. भँवर शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 2017।
3. मयमतम्, अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2019।
4. विश्वकर्मप्रकाश, लेखक- महर्षि अभय कात्यायन,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2019।
5. वास्तुरत्नवाली, डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू, चौखम्बा ओरियंटालिया,दिल्ली,2009।
6. भारतीय वास्तुशास्त्र,महादेव प्रासाद शुक्ल, वास्तु वाङ्मय प्रकाशनशाला, लखनऊ।

इकाई 3 रामायण, महाभारत एवम् अर्थशास्त्र में वास्तु

इकाई की संरचना

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- रामायणकालीन वास्तुशास्त्र के स्वरूप को बताने में कुशल होंगे।
- महाभारतकालीन वास्तु के स्वरूप को विवेचित करने में दक्ष होंगे।
- कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में वास्तु के स्वरूप को वर्णित करने में समर्थ होंगे।
- अर्थशास्त्र सम्मत दुर्ग निर्माण पद्धति को प्रकाशित करने में कुशल होंगे।
- कौटिल्य के अनुसार वास्तु सम्मत दुर्ग सन्निवेश विधि को विवेचित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

वास्तुशास्त्र की परम्परा अत्यन्त समृद्धशाली है। इस शास्त्र का अतीत जितना गौरवशाली था वर्तमान भी उतना ही महत्वशाली है।हमारे प्राचीन शास्त्रों में वास्तु

विद्या के अनेक प्रमाण मिलते हैं। वेदों,पुराणों रामायण,महाभारत आदि अनेक ऐतिहासिक ग्रंथों का आलोड़न करने पर वास्तु शास्त्र के विविध प्रमाण हमें दृष्टिगोचर होते हैं। रामायण,महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दुर्ग निर्माण की विधि, दुर्ग-निवेश इत्यादि का उल्लेख प्राप्त होता है, जो उस काल में भी वास्तु शास्त्र सम्मत गृह, भवन, प्राचीर आदि निर्माण के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत इकाई में आप इन्हीं विषयों का अध्ययन करेंगे।

3.2 रामायण, महाभारत एवम् अर्थशास्त्र में वास्तु : संक्षिप्त परिचय

रामायण एवं महाभारत के वर्णनों का आधार ग्रहण करना है, जहाँ वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों के का आस्वादन करके तत्कालीन वास्तु-विद्या के उज्ज्वल रूप का अनुभव किया जा सकता है। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ की वास्तु-विद्या के प्रवर्त्तक विश्वकर्मा और मय के निर्देश तो मिलते ही हैं, साथ ही साथ गृह्य-सूत्रों में प्रतिपादित वास्तु-विद्या के भी दर्शन होते हैं। परन्तु विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वास्तु-विद्या एवं कला के वैज्ञानिक पक्ष का पूर्ण आभास भी प्राप्त होता है। रामायण में स्थपतियों के भेद, गृह- प्रभेद (प्रासाद, सौध, विमान, हर्म्य, सभा आदि) भूमि-वर्गीकरण, गृह-वर्ग जैसे 'पद्म', 'स्वस्तिक', 'वर्धमान' तथा 'नन्द्यावर्त (महाभारतीय) तथा विमान, राजवेश्म, सभा आदि के जो वर्णन आगे के शिल्पशास्त्रों में प्रतिपादित है, उनके भी दर्शन इनमें होते हैं। 'पुर-निवेश' की रूपरेखा जो आगे विकसित हुई है, उसके बहुत से संकेत यहाँ हैं। रामायण का अयोध्या वर्णन इस तथ्य का साक्षी है। द्वार आदि की परम्परा के विकसित बीज भी यहाँ मिलते हैं। इन संकेतों से महाकाव्यकालीन उन्नत वास्तुविद्या के विषय में दो राय नहीं हो सकती।

रामायण - वाल्मीकीय रामायण के मुख्य भाग का रचना-काल ई० पूर्व ५०० के लगभग माना जाता है। इस ग्रन्थ के कुछ इस काल के बहुत बाद में जोड़े गये। इस ग्रन्थ में 'स्वपति', 'वर्धकि', 'तक्षक', 'सूत्रधार' आदि शब्द मिलते हैं। भारतीय वास्तुशास्त्रों में इन शब्दों का प्रयोग विभिन्न कोटियों के कारीगरों के लिए किया गया है। रामायण में 'अनेक भूमि' (४,३३) 'सप्तभूमि' (२.२.४६) आदि प्रभृति शब्दों से अनेक मंजिल वाले भवनों का पता चलता है। भवनों को उनकी विशेषताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न कोटियों के अन्तर्गत रखा जाता था यथा- चतु:शाला, पद्य, स्वस्तिक, वर्धमान आदि। इसी प्रकार 'प्रसाद', 'विमान', 'हर्म्य', 'सौन्ध' आदि शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के राजप्रासादों के लिए हुआ है।

वाल्मीकि रामायण में हमें चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है- (१) नादेय (नवी दुर्गा) (२) पार्वत्य (गिरि दुर्ग), (३) वन्म (वन दुर्ग) तथा (४) कृत्रिम (मानव निर्मित दुर्ग)। अयोध्या, किष्किन्धा, लंका-जैसे नगरों के वर्णनों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नगरों, दुर्गों तथा अन्तःपुरों की रक्षा हेतु दृढ़ रक्षा-प्राचीरों का निर्माण किया जाता था। उनके चारों ओर गहरी खाइयां खोदी जाती थी। नगरों के चारों ओर द्वार (गोपुर) बनाये जाते थे। रक्षा-प्राचीरों के ऊपर बुर्ज (अट्टालक) बनते थे। उनके ऊपर से शत्रुओं की गतिविधियों का निरीक्षण किया जा सकता था। राज- प्रासादों की सबसे ऊपर की मंजिल पर शिखरों, श्रृंगों एवं चन्द्रशालाओं का निर्माण किया जाता था। प्रासादों ने झरोखें तथा खिड़कियाँ होती थी। कुछ खिड़कियों में सोने की जालियाँ (हेम-जाल) लगायी जाती थी। प्रासादों को अलंकृत करने के लिए उनमें बाहर की ओर विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ उकेरी जाती थी। रावण का राज प्रासाद चिड़ियों, सर्पों, अश्वों आदि की रत्नजटित प्रतिमाओं से कहा गया है।

साधारण भवनों तथा प्रासादों के अतिरिक्त रामायण में 'बन्दी', देवायतन', 'यूप' प्रभृति शब्दों का उल्लेख हुआ है। 'सभा' (यज्ञशाला) का विवरण भी मिलता है। उनका सम्बन्ध विष्ट तथा सामान्य जन दोनों वर्गों के धार्मिक जीवन से था।

रामायण में गृहों एवं प्रासादों के वर्णन में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति मिलती है। रत्न- जटित

खिड़कियों, चमकीली फर्शों तथा सोने-चांदी की दीवारों के विवरण अनेक स्थलों पर मिलते हैं। इससे यह कहना कठिन है कि निर्माण कार्य के लिए किस सामग्री का प्रयोग किया जाता था। सभा-भवनों तथा वेदिकाओं के निर्माण में ईंटों का प्रयोग होता था। कुछ भवन पत्थर के बने (शिलागृह) होते थे। स्तम्भों के निर्माण में भी पत्थर का इस्तेमाल होता था।

महाभारत- वर्तमान् रूप में उपलब्ध महाभारत को विद्वानों ने ई० दूसरी में पूर्ण हुआ मानते हैं। इसके कुछ अंशों को विवेच्य युग में रचित कहा जा सकता है। महाभारत के अनेक सन्दर्भों से प्राचीन भारतीय स्थापत्य पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। इस युग तक 'वास्तु विद्या का पर्याप्त विकास हो चुका था। विश्वकर्मा तथा मय के नामों का उल्लेख क्रमश: देवताओं तथा दानवों के कुशल कारीगरों के रूप में हमें मिलता है। इन्द्रप्रस्थ नगर के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवरण महाभारत में मिलते हैं, वे नगर-निर्माण योजना पर प्रकाश डालते हैं। महाभारत में छह प्रकार के दुर्गों का उल्लेख हुआ है: (१) धन्य दुर्ग, (२) महि दुर्ग, (३) गिरि दुर्ग, (४) मानुष्य दुर्ग, (५) मृद् दुर्ग तथा (६) वन दुर्ग। इस ग्रन्थ में उदक दुर्ग का उल्लेख नहीं मिलता। दुर्गों की ही भाँति लक्षणों के आधार पर वर्गीकृत विभिन्न प्रकार के गृहों के नाम हमें महाभारत में मिलते हैं।

सुरक्षा की दृष्टि से दुर्गों के चारों ओर रक्षा-प्राचीर (प्राकार) का निर्माण किया जाता था और दुर्गों तथा नगरों के चारों ओर गहरी खाइयाँ (परिखा) खोदी जाती थी, जिनमें जल भरा रहता था। अतिरिक्त सुरक्षा की दृष्टि से इन खाइयों में जल-जन्तुओं को भी रखा जाता था। एक नगर को चौड़ी बाई की तुलना सागर से की गयी है।

अर्थशास्त्र- ईसवी पूर्व कालीन कौटिल्य के अर्थशास्त्र की वास्तु-विद्या पर थोड़ा सा संकेत यही पर आवश्यक है। इससे ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व की वास्तु-विद्या के साधारण सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में सहायता मिल सकेगी। ईसवी शतक से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसमें वास्तु विद्या के सिद्धान्तों का सुन्दर विकास प्राप्त होता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में वास्तु-विद्या बोधक सूत्रों से स्पष्ट है कि यह परम्परागत वास्तु-विद्या का सूत्र रूप में संक्षिप्त कर, राजनीति के ग्रन्थ में विषयानुषङ्ग उद्धृत कर इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि उस काल में वास्तुविद्या के मौलिक ग्रन्थ होंगे अन्यथा, वास्तु-हृदय', 'नवभाग', 'वास्तु-देवता', 'कोष्ठक' आदि शब्द कैसे लोग समझ सकते। अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के भवन द्वारों की देव-नामावली जैसे ऐन्द्र, वारुण, याम्य आदि तथा पारिभाषिक शब्द यथा कपिशीर्ष,इन्द्रकोप, हस्तिनख, तल,कपाटयोग,सन्धि, बीज एवं अन्य अनेक ऐसे ही शब्द यथा गोपुर, तोरण, प्रतोली, विष्कम्भ आयाम, उच्छ्रय, अश्रि आदि आदि से तत्कालीन वास्तु-विद्या की प्रोन्नतावस्था की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती हैं।

संक्षेप में ईसवी पूर्व वास्तु-विद्या की रूपरेखा का निम्न प्रकार से स्थिरीकरण किया जा सकता है:-

१. वास्तु-पुरुष- विकल्पन, २. भूमिचयन एवं भूपरीक्षण,३. द्वार- संस्थान, ४.वृक्षारोपण, ५. दारु-आहरण, ६. वास्तु- पद (पद- विन्यास), ७. वास्तु-विद्या तथा ज्योतिष,८. वास्तु-फल,९. स्थपति,१०. पापाणकला तथा मूर्ति-निर्माण-कला, ११. शाल भवन, १२. शंकुस्थापन, १३. हस्त के विभिन्न माप,१४. स्तम्भादि-माप-व्यवस्था, १५.गृह- द्रव्य (पाषाण, इष्टका आदि),१६. भवन,१७. प्रासाद- रचना, १८. वास्तु विद्या की परम्परायें (शैलियाँ श्रादि)

3.3 रामायण में वास्तु का स्वरूप

रामायणकालीन वास्तु के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है। चक्रवर्ती राजा दशरथ के शासनकाल में इस राष्ट्र में वास्तुविद्या अपनी सर्वोच्च शिखर पर थी। अयोध्या नगरी के वास्तुकौशल का वर्णन वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है। यथा-

आयता दश द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्त महापथा॥

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥

तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः।
पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा॥

कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः॥
(रामायण, बा.का.,5/7-10)

अर्थात् यह अयोध्यापुरी बारह योजन जो 64 मील = लगभग 96 कि०मी० के बराबर होता है, लम्बी तथा तीन योजन अर्थात् 16 मील = 24 कि०मी० चौड़ी थी। जिसमें सुविभक्त महापथों वाले राजमार्ग थे, जिस पर प्रतिदिन जल का छिड़काव तथा पुष्पवृष्टि होती थी। उस पुरी में महाराज दशरथ इन्द्र की भाँति रहते थे। उसमें कपाट, तोरण, सुविभक्त बाजार थे तथा सभी प्रकार के यन्त्र तथा आयुध थे। इसी प्रकार राजा दशरथ के द्वारा किये गये यज्ञ में यज्ञीय वास्तुशास्त्र के अनुसार यज्ञशाला निर्माण की भी चर्चा मिलती है, जिसमें इक्कीस खम्भे तथा पक्की ईंटों से निर्मित यज्ञकुण्ड का विवेचन प्राप्त होता है। जैसे-

कारिता सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालङ्कृता भवन्॥

एकविंशति यूपास्त एकविंशत्यरत्नयः।
वासोभिरेक विंशद्भिरेकैकं समलङ्कृताः॥
(रामायण, बा.का.,14/24-25)

इसी प्रकार रामायण के अन्य स्थलों पर भी वास्तुशास्त्र सम्मत ऐसे ही विवरण उपलब्ध होते हैं।

3.4 महाभारत में वास्तु का स्वरूप

महाभारत में भी अनेक स्थलों पर वास्तुविद्या का सुन्दर विवेचन मिलता है। आचार्य द्रोण ने अपने शिष्यों के द्वारा अस्त्र-शस्त्र विद्या का कौशल प्रदर्शन कराने के लिए रङ्गभूमि का निर्माण कराया था। यह रङ्गभूमि वास्तु के अनुसार बनाया गया था। यह प्रसङ्ग महाभारत में प्राप्त होता है कि इस रङ्गभूमि के निर्माण से पूर्व शुभ मुहूर्त में चयनित भूमि पर विधिवत् वास्तुपूजन किया था। तत्पश्चात् आचार्य के शिल्पकारों ने उस रङ्गभूमि में विधिपूर्वक यथोचित एक

विशाल प्रेक्षागृह की नींव रखी। जैसा कि महाभारत में वर्णित है -

रंगभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि।
प्रेक्षागारं सुविहितं चक्रुस्ते तस्य शिल्पिन: ॥

लाक्षागृह के प्रकरण से भी यह ज्ञात होता है कि महाभारत काल में वास्तुविद्या अत्यधिक समुन्नत था। दुर्योधन ने पुरोचन को चतुःशाल भवन बनाने की आज्ञा दी थी, जिसमें घी, तेल चर्बी तथा मिट्टी में मिलकर लाह का प्रयोग करने को कहा गया था। यथा-

तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृत्तम्।
नगरोपान्तमाश्रित्य करायेथा महाधनम्॥
(म.भा.,आ. प., 143/8)

धर्मराज युधिष्ठिर का विलक्षण सभा भवन भी वास्तुकला का श्रेष्ठ नमूना था। यह सभा भवन दैत्यों के शिल्पकार मय द्वारा निर्मित किया गया था। इसके निर्माण में वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का यथोचित पालन किया गया था, जैसे- शिल्पकारों का सम्मान, मंगलानुष्ठान, ब्राह्मण-भोजन,दान-पुण्य तथा भूमि का माप आदि। यथा-

तस्मै युधिष्ठिर: प्रजां यथार्हमकरोत् तदा।
स तु तां प्रतिजग्राह मय: सत्कृत्य भारत ॥

पर्वतों के मध्य बने दुर्ग में यदि किसी पर्वत का शिखर गिर जाता है, तो वास्तुशास्त्र के अनुसार वह अशुभ होता है। श्रीकृष्ण ने जब भीम और अर्जुन के साथ जरासन्ध की राजधानी गिरिव्रज में प्रवेश किया था, तो चैत्यक पर्वत के शिखर को गिरा दिया था। उस समय वेदज्ञ विद्वानों ने इन अपशकुनों की सूचना जरासंध की दी और इस अपशकुन के निवारणार्थ राजा को हाथी पर बैठाकर उसमें चारो और प्रज्वलित अग्नि घुमायी थी। राजा जरासन्ध ने भी अनिष्ट की शांति के लिये व्रत की दीक्षा ली और उपवास किया था -

एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासन्धमदर्शयन्॥
पर्यग्नयकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासन्धःप्रतापवान्॥
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत्॥
(महा० भा०,स.प.,२१/२२-२३)

प्राचीन भारत के लोग वास्तुशास्त्र में सम्पूर्ण संसार में आगे थे। मिश्र (मिस्र) के पिरामिडों का निर्माण भी भारतीय शिल्पियों द्वारा ही किया गया है। गृह के 14 प्रकार वास्तुशास्त्र में कहे गए हैं। जिसमें 14 वें प्रकार को प्रायुव कहते हैं। यह एक प्रकार की पनडुब्बी ही होती थी। दुर्योधन इसी प्रकार के प्रायुव नामक गृह में छिप गया था ,जो कि जल के भीतर बना हुआ था।

प्राचीन काल में इस प्रकार 'प्रायुव' नामक गृहों को राजा लोग अपने विश्राम के लिये कुशल शिल्पियों से बनवा लिया करते थे। महाभारत के युद्ध में जब दुर्योधन को ग्यारह अक्षौहिणी सेना नष्ट हो गयी, तब दुर्योधन ने पूर्व से बनवाये हुए उस जलस्तम्भी गृह 'प्रायुव' में जाकर विश्राम किया था। वह गृह एक गहरे जलकुण्ड में बना हुआ था-

एकादशचभूभर्त्ता पुत्रो दुर्योधनस्तव।
पुत्रो गदामादाय तेजस्वी पदातिः प्रथितो ह्रदम्॥

पाण्डवों से हारकर भागा दुर्योधन तालाब में बने पनडुब्बी (प्रायुव) में छुपा था, संजय ने यह बात धृतराष्ट्र को बतायी थी-

ब्रूया: सञ्जय राजानं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
दुर्योधनस्तव सुतः प्रविष्टो ह्रदमित्युत॥
(महाभारत,शल्यपर्व,२९/५१)

मार्ग में संजय की भेंट युद्ध में घायल कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृतवर्मा-इन तीन

योद्धाओं से हुई, उन्होंने संजय से दुर्योधन के बारे में जानकारी चाही। तब संजय ने उन्हें उसके सरोवर में छिपने की जानकारी दी-

एवमुक्त्वा महाराज प्राविशत् तं महाह्रदम्।
अस्तम्भयत तोयं च मायया मनुजाधिप:॥
(महाभारत,शल्यपर्व.अध्याय २९/५४-६१)

वह सरोवर बहुत विशाल था, दुर्योधन उसमें निर्मित 'प्रायुव' में छिपा हुआ था और पाण्डव दुर्योधन की खोज कर रहे थे। वे थककर अपने शिविर में विश्राम करने लगे, तब तक कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृतवर्मा-ये तीनों ही उस सरोवर के तट पर दुर्योधन से मिलने के लिये गये। राजा दुर्योधन उस प्रायुव में शयन कर रहा था। प्रायुव में संचार व्यवस्था उत्तम थी, अतः इन तीनों के जगाने पर दुर्योधन की पनडुब्बी ऊपर आ गयी और तीनों महारथियों से दुर्योधन का वार्तालाप होने लगा।

'यदा तु पाण्डवाः सर्वे सुपरिश्रान्तवाहनाः॥
ततः स्वशिविरं प्राप्य व्यतिष्ठन्त ससैनिकाः।

ततः कृपश्च द्रौणिश्च कृतवर्मा च सात्वतः॥
सन्निविष्टेषु पार्थेषु प्रयातस्तं ह्रदं शनैः।

ते तं ह्रदं समासाद्य यत्र शेते जनाधिपः॥
अभ्यभाषन्तं दुर्धर्षं राजानं सुप्तमम्भसि।

राजन्नुत्तिष्ठ युद्धयस्व सहास्माभिर्युधिष्ठिरम्।
जित्वा वा पृथिवीं भुङ्क्ष्व हतो वा स्वर्गमाप्नुहि॥
(महाभारत,शल्यपर्व,३०/८-१२)

दुर्योधन ने उन महारथियों ने कहा—'अहो ! बड़े सौभाग्य की बात है कि ऐसे महासंग्राम में मैं आप लोगों को जीवित देख रहा हूँ। हम लोग अभी विश्राम करके अपनी थकावट दूर कर लें। तदुपरान्त हम अवश्य विजयी होंगे। मैं आज रात विश्राम करके अपनी थकान तथा घावों को ठीक करना चाहता हूँ, फिर कल प्रातः आप लोगों के साथ जाकर मैं युद्धक्षेत्र में अवश्य ही युद्ध करूँगा-

विश्रम्यैकां निशामद्य भवद्भिः सहितो रणे।
प्रतियोत्स्याम्यहं शत्रून्श्वो न मेऽस्त्यत्र संशयः॥
(महाभारत,शल्यपर्व,३०।१८)

इधर पाण्डव दुर्योधन को किसी भी कीमत पर पकड़ने के लिये व्यग्र थे। उनके गुप्तचर चारों ओर दुर्योधन की खोज में लगे हुए थे। उन्होंने दुर्योधन का पता लगाने के लिये पुरस्कार भी घोषित कर रखा था। वनवासी लोगों में महाराज युधिष्ठिर के प्रति अपार सहानुभूति थी। दैवयोग से कुछ व्याध (शिकारी लोग) पानी पीने के लिये उस सरोवर पर आये तो उन लोगों ने कृतवर्मा, कृपाचार्य एवं अश्वत्थामा के साथ दुर्योधन की बातचीत सुन ली, अतः उन्हें पता चल गया कि दुर्योधन इसी सरोवर में प्रायुव (पनडुब्बी) में छिपा हुआ है। दुर्योधन की खोज में लगे युधिष्ठिर को मार्ग में व्याध मिल गये थे तब उनसे उन्होंने पूछा था कि क्या तुम लोगों को दुर्योधन दिखा है ? अतः उस बात को यादकर व्याधों ने पुरस्कार प्राप्ति की इच्छा से भीमसेन के शिविर में जाकर दुर्योधन के प्रायुव (पनडुब्बी) में छिपे होने का वृत्तान्त युधिष्ठिर को बता दिया, जिसे सुनकर महाबली भीमसेन की बाँछें खिल गयीं। पाण्डव भी बहुत प्रसन्न हुए-

ते तु पाण्डवमासाद्य भीमसेनं महाबलम्।
तस्मै सर्वमाचख्युर्यद्वृत्तं यच्च वै श्रुतम्॥
ततो वृकोदरो राजन् दत्त्वा तेषां धनं बहु।
धर्मराजाय तत्सर्वमाचचक्षे परन्तपः॥ (महाभारत शल्यपर्व २०/४१-४२)

भीमसेन ने सूचना देने वाले व्याधों को धन देकर विदा किया और युधिष्ठिर के नेतृत्व में वे सभी पाण्डव वीर अपने सैनिकों समेत उस सरोवर पर गये, जिसमें चमत्कारिक ढंग से सारी सुविधाओं के साथ दुर्योधन रह रहा था। वह हाथ में गदा लिये हुए लेटा हुआ था तथा शयन मुद्रा में ही कृतवर्मा आदि से बातचीत कर रहा था। उस समय पनडुब्बी पानी के ऊपर थी। जैसे ही युधिष्ठिर की सेना का कोलाहल सुनाई पड़ा, कृतवर्मा ने दुर्योधन को इसकी सूचना दी और वे कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा के साथ वहाँ से दूर हटकर छिप गये। पनडुब्बी फिर जल के भीतर छिप गयी। अब उसे किसी भी मनुष्य के लिये देखना पूर्णतः असम्भव था। परन्तु दुर्योधन को जल के भीतर भी पाण्डव सेना का तुमुल शब्द सुनायी पड़ रहा था-

द्वैपायनं ह्रदं घोरं यत्र दुर्योधनोऽभवत्।
शीतामजलं ह्रदं द्वितीयमिव सागरम्॥

मायया सलिलं स्तभ्य यत्राभूत् ते स्थितः सुतः।
अत्यद्भुतेन विधिना दैवयोगेन भारत॥

सलिलान्तर्गतः शेते दुर्दर्शः कस्यचित् प्रभो।
मानुषस्य मनुष्येन्द्र गदाहस्तो जनाधिपः॥
(महाभारत,शल्यपर्व,३०।५४-५६)

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ ही थे, अतः उस द्वैपायन सरोवर पर जाकर युधिष्ठिरादि ने इस विषय पर भगवान् से परामर्श किया। युधिष्ठिर ने देखा कि सरोवर का जल यथावत् लहरों से परिपूर्ण है। माया (विज्ञान) के इस चमत्कार पर महाराज युधिष्ठिर विस्मित हो रहे थे। भगवान् ने

युधिष्ठिर से दुर्योधन को चुनौती देने को कहा । युधिष्ठिर ने चुपचाप लेटे दुर्योधन को व्यङ्गोक्तियों द्वारा उत्तेजित किया । अतः पाण्डवों के द्वारा फटकारे जाने पर दुर्योधन प्रायुव (पनडुब्बी) से बाहर आ गया और भीमसेन के साथ गदायुद्ध में मारा गया ।

'प्रायुव' के निर्माण का उद्देश्य- प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार के विज्ञानों के साथ वास्तुशास्त्र भी अपनी चरमसीमा पर था इस बात की पुष्टि के लिये महाभारत की यह घटना यहाँ पर दी गयी है । जल के भीतर इन 'प्रायुव' नामक गृहों के निर्माण का उद्देश्य क्या था ? यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है । उस काल में इनके निर्माण के उद्देश्य निम्न थे-

१. सात्त्विक प्रकृति के लोग (ऋषि-मुनि इत्यादि) एकान्त तपस्या के लिये इनका उपयोग करते थे । इनमें सांसारिक विघ्न-बाधाओं से बचे रहकर वे मनुष्य और समाज से दूर रहते थे । उनको निजी जिन्दगी में बाहरी हस्तक्षेप नहीं रहता था । अनेक ऋषियों द्वारा वर्षों तक सुरक्षित रूप से जल में रहकर तपस्या करने का उल्लेख भारतीय पुराणों में मिलता है । 'प्रायुव' शब्द निजीपन का बोधक है । महर्षि सौभरि भी प्रायुव में रहकर तप करते थे । देववाणी संस्कृत का यह शब्द निजीपन के अर्थ में ही अंग्रेजी में Private तथा Privacy हो गया है । ये इसी वैदिक 'प्रायुव' शब्द से ही व्युत्पन्न हैं । यह शब्द यूरोप की प्राचीन भाषा लैटिन में Privatus तथा Privus आदि रूपों में विद्यमान है ।

२. राजा लोग, जो समृद्ध होते थे, वे इसका उपयोग विश्राम के लिये करते थे । जल के भीतर होने से इसका तापमान सदैव वातानुकूलित होता है । इससे शरीर को पूर्ण विश्राम मिलता है, साथ ही शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति भी बढ़ जाती थी । मानसिक तनाव भी दूर हो जाता था; क्योंकि जल की गहराई में सूर्य की किरणों का तीव्र प्रकाश नहीं पहुँच पाता है, अतः मानसिक शान्ति बनी रहती थी।

३. तामसी जन अपने प्रतिपक्षियों से बचने के लिये उनका उपयोग करते थे और छिपकर निष्क्रिय होकर पड़े रहते थे । मगरमच्छ की भाँति पड़े रहते थे; क्योंकि 'प्रायुवों' का अर्थ आलस्य या आलसी जैसा भी है । जिसके समानार्थी प्रमाद, अनुत्साह आदि भी हैं । यजुर्वेद के इस मंत्र में देवताओं से अप्रायुव रहकर रक्षा की प्रार्थना की गयी है-

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥

(यजुर्वेद २५/१४)

लाक्षागृह – विश्वकर्मप्रकाश ग्रन्थ में 'जातुषगृह' का उल्लेख है । जातुष का अर्थ लाख या लाही होता है । संस्कृत में इसे लाक्षा कहते हैं । आज के समय में कृत्रिम वस्तुओं के निर्माण में जैसा प्रयोग प्लास्टिक तथा नायलोन का होता है । उससे अधिक प्रयोग प्राचीन काल में लाख का होता था । परन्तु निर्माण के अतिरिक्त लाख का प्रयोग आरोग्यकारक औषधि के रूप में भी होता था । परन्तु आज तो लोग 'लाख' क्या वस्तु थी, इसे तो छोड़िये उसका नाम भी भूल रहे हैं।

लाख को संस्कृत में लाक्षा, पलङ्कषा, अलक्त, याव, वृक्षामय, जतु, ब्राह्मणी, अङ्गारवल्ली, खरशाखा, हञ्जिका आदि कहा गया है । अंग्रेजी में इसे Lac, Cocous lacca (कॉकस लक्का) तथा Tachardia lacca (टकार्डिआ लक्का) कहा जाता है ।

लाख- पुराने पीपल, ढाक, वट तथा बेर आदि की टहनियों पर एक प्रकार के सूक्ष्म कीड़ों द्वारा निर्मित रक्ताभ या गाढ़े भूरे रंग का एक पदार्थ है। इसमें पीपल वृक्ष पर बनने वाली लाख श्रेष्ठतम होती है, वैशाख तथा आश्विन मास में इसे वृक्षों से निकालकर सुखाया जाता है, फिर उसको लम्बी थैलियों में भरकर गरम किया जाता है।

3.5 अर्थशास्त्र में वास्तु का स्वरूप

अर्थशास्त्र में नगर योजना सम्बन्धी विविध पक्षों के अवलोकन के बाद निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आचार्य ने इस सम्बन्ध में जो भी सुझाव दिये हैं वे पूर्व परम्पराओं पर ही आधारित हैं। परन्तु उनके व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करने का प्रथम श्रेय उन्हें अवश्य जाता है। कौटिल्य ने नगर योजना में नगरों की सुरक्षा को सबसे पहले प्राथमिकता दी। नगर निवेश के अन्तर्गत विविध वास्तु संरचनाओं एवं पुरवासियों के वर्ण एवं जातिगत भेद के आधार पर स्थान निर्धारण करते समय आचार्य ने उनके प्रकार्यात्मक उपयोगिता को विशेष महत्त्व दिया। चूँकि नगर राज्य के शौर्य प्रदर्शन का एक माध्यम भी होता था अतः उनके नगर वास्तु विषयक सन्दर्भों में भव्यता सर्वत्र दिखती है। अर्थशास्त्र में वर्णित नगर वास्तु सम्बन्धी ये परम्परा आगे भी चलती रही। भले ही विशुद्ध रूप से वास्तु शास्त्र सम्बन्धी मौर्य काल के कई शताब्दियों बाद लिखे गए परन्तु अन्य साहित्य में बिखरे हुये वास्तुशास्त्र सम्बन्धी शब्दों से इस तथ्य की पुष्टि अवश्य होती है। कालान्तर में विशुद्ध रूप से इस विषय पर मानसार एवं समरांगणसूत्रधार ग्रन्थ भी उन्हीं मानकों का निर्वहन करते हैं। अर्थशास्त्र में दुर्ग निर्माण और दुर्ग सन्निवेश की क्या अवधारणा थी ? उस पर थोड़ी चर्चा करते हैं। तो आइये सबसे पहले दुर्ग निर्माण की पद्धति को जानते हैं।

दुर्ग निर्माण

आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि जनपद-सीमाओं की चारों दिशाओं में राजा युद्धोचित प्राकृतिक दुर्ग का निर्माण करवाये। दुर्ग चार प्रकार के हैं- १ औदक २. पार्वत ३. धान्वन और ४. वनदुर्ग। चारों ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत स्थान- प्रदेश औदकदुर्ग कहलाता है। बड़ी-बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप मे निर्मित दुर्ग पार्वत दुर्ग कहलाता है। जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग धान्यन दुर्ग है। इसी प्रकार चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा काँटेदार सघन झाड़ियों से परिवृत दुर्ग वनदुर्ग कहलाता है। इनमें ओदक तथा पार्वतदुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में लाये जाते हैं। धान्वन और वनदुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं। अथवा आपत्ति के समय इन दुर्गो मे भागकर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है।

राजा को चाहिए कि धनोत्पादन के मुख्य केन्द्र बड़े-बड़े स्थानीय नगरी का निर्माण करवाये। वास्तुविद्या के विद्वान् जिस प्रदेश को श्रेष्ठ बतायें, वही पर नगर बसाना चाहिए अथवा किसी नदी के संगम पर, बड़े-बड़े तालाब के किनारे, या कमलयुक्त जलाशय के तट पर भी नगर बसाये जा सकते हैं। नगर का निर्माण सम्बन्धित भूमि के अनुसार गोल, लम्बा अथवा चौकोर, जैसा भी उचित हो, होना चाहिए। उसके चारों ओर छोटी-छोटी नहरों द्वारा पानी का प्रबन्ध अवश्य रहे। उसके इधर- उधर को भूमि में पैदा होने वाली विक्री योग्य वस्तुओं का संग्रह तथा उनके विक्रय का प्रबन्ध भी वहाँ होना चाहिए। नगर में आने-जाने के लिए जलमार्ग और स्थल मार्ग दोनों की सुविधा होनी चाहिए। नगर के चारो ओर एक-एक दण्ड (चार हाथ) की दूरी पर

तीन खाइयां खुदवानी चाहिए। ये खाइयां क्रमशः चौदह, बारह और दस दण्ड चौडी होनी चाहिए। जितनी ये चौडी हो उससे चौथाई अथवा आधी गहरी होनी चाहिए। अथवा चौडाई का तीसरा हिस्सा गहरी भी हो सकती है। उन खाइयों की तलहटी बराबर चौरस एवं मजबूत पत्थरों से बँधी हो। उनकी दीवारें पत्थर अथवा ईटों से मजबूत बनी हुई हो। कहीं-कहीं खाइयाँ इतनी कम गहरी हो कि जहाँ से जल बाहर की ओर छलकने लगे अथवा किसी नदी के जल से इन्हें भरा जा सके। उनमें जल के निकलने का मार्ग अवश्य रहना चाहिए। कमल के फूल तथा घडियाल आदि जलचर भी उनमें रहे। यथा-

चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत् ,अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धमौदकं, प्रास्तरं गुहा वा पार्वतं निरुदकस्तम्बमिरिणं वा धान्वनं, खञ्जनोदकं स्तम्भगहन वा वनदुर्गम् । तेषां नदीपर्वतदुर्गं जनपदारक्षस्थानं धान्वनवनदुर्गमटवीस्थानम् आपद्यपसारो वा ।जनपदमध्ये समुदयस्थानं स्थानीयं निवेशयेद् । वास्तुकप्रशस्ते देशे नदीसङ्गमे ह्रदस्य वा विशोपस्याङ्के सरसस्तटाकस्य वा वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा वास्तुकवशेन प्रदक्षिणोदकं पण्यपुटभेदनमंसवारिपथाभ्यामुपेतम् । तस्य परिखास्तिस्रो दण्डान्तराः कारयेत् । चतुर्दश द्वादश दशेति दण्डान् विस्तीर्णाः विस्तारादवगाद्याः पादोनमर्धं वा त्रिभागमूला मूले चतुरश्राः पाषाणोपहिताः पाषाणेष्टकावद्धपार्श्वा वा तोयान्तिकीरागन्तुतोयपूर्णा या सपरिवाहाः पद्मग्राहवतीः। (अ., प्र.19,अ. 3,पेज-८५,८६)

खाई से चार दण्ड की दूरी पर छह दण्ड ऊँचा, सब ओर से मजबूत और ऊपर की चौड़ाई से दुगुनी नींव वाला एक बडा वप्र बनवाया जाय। इसके बनवाने में वही मिट्टी काम में लाई जाय, जो खाई से खोदकर बाहर फेंकी गई है। प्राकार (वप्र) तीन प्रकार का होना चाहिए- १.ऊर्ध्वचय, २. मञ्चपृष्ठ और ३. कुम्भकुक्षिक, अर्थात् क्रमशः ऊपर पतला, नीचे चपटा और बीच में कुम्भाकार। इन प्राकारों को बनवाते समय इनकी मिट्टी को हाथी और बैलों से अच्छी तरह रौंदवाना चाहिए, जिससे कि मिट्टी बैठकर मजबूत हो जाए। इनमें चारों ओर काँटेदार विषैली झाडियाँ लगी होनी चाहिए। प्राकार बन जाने पर यदि मिट्टी बची रह जाय तो उसे उन्हीं गड्ढों में भर देना चाहिए, जहाँ से उसको खोदा गया है, अथवा उस अवशिष्ट मिट्टी से प्राकार के जो छिद्र रह गए हों, उन्हें भरवा देना चाहिए। वप्र बन जाने पर उसने उपर दीवार बनवानी चाहिए। यह दीवार चौडाई से दुगुनी ऊँची हो, कम-से-बम बारह हाथ से लेकर चौदह, सोलह, अठ्ठारह सम सख्याओं में अथवा पन्द्रह, सत्रह आदि विषम सख्याओं मे अधिक से अधिक चौबीस हाथ तक भी होनी चाहिए। प्राकार का ऊपरी भाग इतना चौडा होना चाहिए जिस पर एक रथ आसानी से चलाया जा सके। ताड वृक्ष की जड़ के समान, मृदंग बाजे के समान, बदर की खोपड़ी के समान आकार वाले ईंट-पत्थरों की कंकरीटों से अथवा बड़े-बड़े शिलाखण्डों से प्राकार का निर्माण करवाना चाहिए। लकडी का प्राकार कभी भी न बनवाना चाहिए, क्योंकि उसमें सदा आग लगने का भय बना रहता है। यथा-

चतुर्दण्डावकृष्ट परिखायाः षड्दण्डोच्छ्रितमवरुद्धं तद्विगुणविष्कम्मं खाताद्वप्र कारयेत्; ऊर्ध्वचयं, मञ्चपृष्ठं, कुम्भकुक्षिकं वा हस्तिभिर्गोभिश्च क्षुण्ण कण्टकिगुल्मविषवल्लीप्रतानवन्तम् । पासुशेषेण वास्तुच्छिद्रं पूरयेत् । वप्रस्योपरि प्राकारं विष्कम्मद्विगुणोत्सेधमैष्टकं द्वादशहस्ता- दूर्ध्वमोजं युग्म वा आचतुर्विंशतिहस्तादिति कारयेत् । रथचर्यासञ्चारं तालमूलमुरजकैः कपिशीर्षकै-श्चाचिताग्रं पृथुशिलासंहितं वा शैलं कारयेत् न त्वेव काष्ठमयम् । अग्निरवहितो हि

तस्मिन्वसति। (अ.,प्र.19,अ. 3,पेज-८६,८७)

प्राकार के आगे एक ऐसी अट्टालिका बनवाये जिसको लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई प्राकार के वरावर हो। ऊँचाई के अनुपात से उस पर सीढियाँ भी बनवानी चाहिए। ये अट्टालिकाएं एक-दूसरे से तीस दण्ड की दूरी पर हो। दो अट्टालिकाओं के बीच चौड़ाई से डेढ़ गुना लम्वा प्रतोली नाम का एक पर बनवाना चाहिए, जिसकी दूसरी मंजिल में जनानखाना रहे। अट्टालिका और प्रतोली के बीच मे इन्द्रकोप नामक एक विशिष्ट स्थान बनवाया जाय। वह इतना ही बडा हो जिसमें तीन धनुर्धारी सतरी आसानी से बैठ सकें। उसके आगे छिद्रयुक्त एक ऐसा तख्ता लगा रहना चाहिए,जिससे धनुर्धारी बाहर की वस्तु देख सकें और भीतर से ही निशाना बाँध सकें, किन्तु बाहर के लोग उन्हें न देख सकें। प्राकार के साथ ही एक ऐसा देवपथ (गुप्तमार्ग या सुरंग) बनवाना चाहिए जो अट्टालक, प्रतोली तथा इन्द्रकोप के बीच में दो हाथ चौड़ा और प्राकार के पास आठ हाथ चौड़ा हो। इसी प्रकार एक दण्ड या दो दण्ड की दूरी पर चार्या अर्थात् प्राकार आदि पर चढने उतरने का स्थान बनवाना चाहिए। प्राकार के ऊपर ही जिस स्थान को कोई न देखने प्रधावितिका तथा उसके पास ही निष्कुहद्वार भी बनवाने चाहिए। बाहर से छोड़े गये बाण आदि से सुरक्षित रहने के लिए छिपने योग्य आड़ को प्रधावितिका कहते हैं। उसमें निशाना मारने के लिए जो छिद्र बनाया जाता निष्कुहद्वार कहा जाता है।

विष्कम्भचतुरश्रमट्टालकमुत्सेधसमावक्षेपसोपानं कारयेत्,त्रिंशद्दण्डान्तरं च। द्वयोरट्टालकयोमध्ये सहर्म्यद्वितलामध्यर्धायामा प्रतोलीं कारयेत्। अट्टालकप्रतोलीमध्ये त्रिधानुष्काधिष्ठानं सापिधानच्छिद्रफलकसंहितमितोन्द्रकोश कारयेत्। अन्तरेषु द्विहस्तविष्कम्भ पार्श्वे चतुर्गुणायाममनुप्राकारम् अष्टहस्तायतं देवपथ कारयेत्। दण्डान्तरा द्विदण्डान्तरा वाचार्याः कारयेद्; अग्राह्ये देशे प्रधावितिकां निष्कुहद्वारं च। (अ.,प्र.19,अ. 3,पेज-८७)

प्राकार की बाहरी भूमि में शत्रुओं के घुटनों को तोड़ देने वाले खूँटे, त्रिशूल,अँधेरे गड्ढे, लौह-कंटक के ढेर, साँप के काँटे, ताडपत्रों के समान बने हुए लोहे के जाल, तीन नोक वाले नुकीले काँटे, कुत्ते की दाढ़ के समान सोहे की तीक्ष्ण कीलें, बड़े-बड़े लट्टे, कीचड़ से भरे हुए गढ़े, आग और जहरीले पानी के गढ़े आदि बनाकर दुर्ग मार्ग को पाट देना चाहिए। जिस स्थान पर किले का दरवाजा बनवाना हो, वहाँ पहिले प्राकार के दोनों भागों में डेढ़ दण्ड लम्बा-चौड़ा मण्डप (चबूतरा) बनाया जाय। तदनन्तर उसके ऊपर प्रतोली के समान छह खम्भे खड़े करके द्वार का निर्माण करवाया जाए। द्वार का निर्माण पाँच दण्ड परिधि से करना चाहिए और तदनन्तर एक-एक दण्ड़ बढ़ाते हुए अधिक से अधिक आठ दण्ड तक उसकी परिधि होनी चाहिए, अथवा, कुछ विद्वानो के मत से दरवाजा दो दण्ड का हो या नीचे के आधार के परिमाण से छठा तथा आठवां हिस्सा अधिक ऊपर का दरवाजा बनवाया जाय। दरवाजे के खम्भों की ऊँचाई पन्द्रह हाथ से लेकर अट्ठारह हाथ तक होनी चाहिए। खम्भों की मोटाई उसकी उसकी ऊँचाई से छठा हिस्सा होनी चाहिए। मोटाई से दुगुना भाग भूमि मे गाड दिया जाये और चौथाई भाग खम्भे के उपर चूल के लिए छोड़ दिया जाये। प्रतोलिका में तीन तलों में से पहिले तले के पाँच हिस्से किए जाय। उनमें से बीच के हिस्से में बावडी बनवाई जाय, उसने दायें-बायें झाला और शाला के छोरों पर सीमागृह बनायें जाए। शाला के किनारों पर भी आमने-सामने छोटे- छोटे दो चबूतरे बनवाये जिन पर बुर्जे भी हो। शाला और सीमागृह के बीच में आणि (एक छोटा दरवाजा) होना चाहिए। मकान को दूसरी मंजिल की ऊँचाई पहली मंजिल की ऊंचाई में आधी होनी चाहिए, उसकी छत के नीचे सहारे के लिए छोटे-छोटे भी खंभे होने चाहिए। मकान की

तीसरी मंजिल को उत्तमागार कहते हैं, उसकी ऊंचाई डेढ़ दण्ड होनी चाहिए। उत्तमागार परिमाण द्वार का तृतीयांश होना चाहिए। उसके पार्श्व भाग पर पक्की ईंटो से मजबूत होने चाहिए। उसकी बाई और घुमावदार सीढियाँ और दाहिनी ओर गुप्त सीढियां होनी चाहिए। किले के दरवाजे का ऊपरी बुर्ज दो हाथ लम्बा होना चाहिए। दोनों फाटक तीन या पांच तख्तों की पर्त के बने हो। किवाडों के पीछे दो-दो अर्गलाएँ होनी चाहिए। किवाड़ों को बन्द करने के लिए एक अरत्नि परिमाप (एक हाथ) की इन्द्रकील (पटखनी) होनी चाहिए। फाटक के बीच में पांच हाथ का एक छोटा या दरवाजा जुड़ा होना चाहिए। पूरा दरवाजा इतना बड़ा होना चाहिए कि जिसमें चार हाथी एक साथ प्रवेश कर सकें। द्वार की ऊंचाई का आधा, हाथी के नाखून के आकार प्रकार का मजबूत लकड़ी का बना हुआ ऐसा मार्ग होना चाहिए जिससे यथा अवसर किले में टहला जा सकें। प्राकार की ऊंचाई जितना किन्तु उसके तृतीयांश जितना, गोह के मुंह के आकार का एक नगरद्वार भी बनवाना चाहिए। प्राकार के बीच में एक बावड़ी बनाकर उसे संबद्ध एक द्वार भी बनवायें। उस द्वार को पुष्करिणी कहते हैं। जिस दरवाजे के आसपास चारशालाएं बनाई जाए और उस दरवाजे में पुष्करिणी द्वार से ड्योटा दरवाजा लगा हो, उसका नाम कुमारीपुरद्वार है। जो दरवाजा दुमजिला हो एवं जिस पर कमूरे आदि न लगे हो, उसे मुण्डकद्वार कहते हैं। इस प्रकार राजा अपनी भूमि और संपत्ति के अनुसार जैसा उचित समझे, कुछ परिवर्तन करके दरवाजों को बनवाये। किले के अन्दर की नहरें सामान्य नहरों से तिगुनी चौडी बनवाये, जिनके द्वारा हर प्रकार का सामान अन्दर और बाहर ले जाया लाया जा सके। पत्थर, कुदाली, कुल्हाडी, बाण, हाथियों का सामान, गदा, मुद्गर, लाठी, चक्र, मशीनें, तोपें, लोहारी के औजार, लोहे का बना सामान, नुकीले भाले, बाँस, ऊँट की गर्दन के आकार वाले हथियार, अग्निबाण आदि सामान नहर के द्वारा लाया और ले जाया जाता है। यथा -

तासु पाषाणकुद्दालकुठारीकाण्डकल्पनाः।
मुसुण्डिमुद्गरा दण्डचक्रयन्त्रशतघ्नयः॥
कार्याः कार्मारिकाः शूला वेधनाप्राश्च वेणवः।
उष्ट्रग्रीव्योऽग्निसंयोगाः कुप्यकल्पे च यो विधिः॥
(अ.,द्वि.अ.,अ.3,पृ. 90)

दुर्ग सन्निवेश

दुर्ग से सम्बन्धित राजभवनों तथा नगर के प्रमुख स्थानों का निर्माण-

वास्तुविद्या विशेषज्ञों के निर्देशानुसार जिस भूमि को नगर निर्माण के लिए चुना जाए उसमें पूरब से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले तीन तीन राजमार्ग हो। इन छह राजमार्गों में नगर निर्माण या गृह निर्माण की भूमि का विभाग करना चाहिए। चारों दिशाओं में कुल मिलाकर बारह द्वार हो, जिसमें जल, थल तथा गुप्त मार्ग बने हो। नगर में चार दण्ड (२४ फीट) चौड़ी रथ्याएँ (छोटी गलियाँ) हो। राजमार्ग, द्रोणमुख (चार सौ गाँवो का मुख्य केन्द्र), स्थानीय (आठ सौ गाँव का मुख्य केन्द्र) राष्ट्र, चरागाह, स्थानीय (व्यापारी मडियाँ), सैनिक छावनियाँ, श्मशान और गाँवो की ओर जाने वाली सभी सड़कों की चौड़ाई आठ दण्ड (१६ गज) होनी चाहिये। जलाशयों तथा जगलों की ओर जाने वाली सड़कों की चौड़ाई चार दण्ड होनी चाहिये। हाथियों के आने-जाने का मार्ग और खेतों को जाने वाला रास्ता दो दण्ड चौडा होना चाहिये। रथों के लिए पाँच अरत्नि (ढाई गज) और पशुओं के चलने का रास्ता दो गज चौडा होना चाहिये। मनुष्य तथा भेड़-बकरी आदि छोटे पशुओं के लिए एक गज चौड़ा रास्ता

होना चाहिए। नगर के सुदृढ भूमिभाग में राजभवनों का निर्माण कराना चाहिए, साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह भूमि चारो वर्णों की आजीविका के लिए उपयोगी हो। गृह भूमि के बीच से उत्तर की ओर नवें हिस्से में, निशात प्रणिधि प्रकरण में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार, अन्त:पुर का निर्माण कराना चाहिये, जिसका द्वार पूरब या पश्चिम की ओर हो। अन्त:पुर के पूर्वोत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित के भवन, यज्ञशाला, जलाशय और मंत्रियों के भवन बनवाना चाहिए। अन्त:पुर के पूर्व- दक्षिण भाग में महानस (रसोईघर), हस्तिशाला और कोष्ठागार (भण्डार) हो। उसके आगे पूरब दिशा में इत्र, तेल, पुष्पहार, अन्न, घी, तेल की दुकानें और प्रधान कारीगरों एवं क्षत्रियों के निवासस्थान होने चाहिए। दक्षिण पूरब में भण्डागार, राजकीय पदार्थों के आय व्यय का स्थान और सोने-चांदी की दुकानें होनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम दिशा मे शस्त्रागार तथा सोने चांदी के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को रखने का स्थान होना चाहिये। उससे आगे दक्षिण दिशा मे नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यापाराध्यक्ष, खदानों तथा कारखानों के निरीक्षक, सेनाध्यक्ष, भोजनालय, शराब एवं मांस की दुकानें, वेश्या, नट और वैश्य आदि के निवासस्थान होने चाहिए। पश्चिम-दक्षिण भाग में ऊँटों एवं गधों के गुप्ति स्थान (तबेले) तथा उनके व्यापार के लिए एक अस्थायी घर बनवाया चाहिए। पश्चिम उत्तर की ओर रथ तथा पालकी आदि सवारियों को रखने के स्थान होने चाहिए। उसके आगे पश्चिम दिशा में ही ऊन, सूत, बाँस और चमड़े का कार्य करने वाले, हथियार और उनके स्थान बनवाने वाले और अन्यों का स्थान होना चाहिए। उत्तर-पश्चिम में राजकीय पदार्थों को बेचने-खरीदने का बाजार और औषधालय होने चाहिए। उत्तर-पूरब में कोपगृह और गाय, बैल तथा घोडों के स्थान बनवाने चाहिए। उसके आगे, पूरब दिशा की ओर नगरदेवता, कुलदेवता, लुहार, मनिहार और ब्राह्मणों के स्थान बनवाये जाना चाहिए। नगर के ओर-छोर जहाँ खाली जगह छूटी है, धोबी, दर्जी, जुलाहे और विदेशी व्यापारियों को बसाया जाना चाहिए।

त्रयः प्राचीना राजमार्गास्त्रय उदीचीना इति वास्तुविभागः स द्वादशद्वारो युक्तोदकभूमिच्छन्नपयः । चतुर्दण्डान्तरा रथ्याः । राजमार्ग द्रोणमुखस्थानीयराष्ट्रविवीतपथाः संयानीयव्यूहश्मशानग्रामपथाश्चाष्टदण्डा। चतुर्दण्डः सेतुवनपथः । द्विदण्डो हस्तिक्षेत्रपथः । पञ्चारत्नयो रथपथश्चत्वारः पशुपथो द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्यपथः । प्रवोरे वास्तुनि राजनिवेशश्चातुर्वण्यं समाजीये । वास्तुहृदयादुत्तरे नवभागे यथोक्तविधानमन्तःपुरं प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा कारयेत्। तस्य पूर्वोत्तरं भागमाचार्यं पुरोहितेज्यातोयस्थानं मन्त्रिणश्चावसेयुः । पूर्वदक्षिणं भाग महानस हस्तिशाला कोष्ठागार च । ततः पर गन्धमाल्यधान्यरसपण्याः प्रधानकारव क्षत्रियाश्च पूर्वा दिशमधिवसेयुः । दक्षिणपूर्वं भागं भाण्डागारमक्षपटल कर्मनिपद्याश्च। दक्षिणपश्चिमं भाग कुप्यगृहमायुधागारं च । तत पर नगर धान्यव्यावहारिककार्मान्तिकबलाध्यक्षाः पक्वाग्नसुरामासपण्या रूपाजीवास्तालावचरा वैश्याश्च दक्षिणा दिशमधिवसेयुः । पश्चिमदक्षिण भाग खरोष्ट्रगुप्तिस्थानं कर्मगृहं च। पश्चिमोत्तरं भागं यानरथशाला। तत् पर ऊर्णासूत्रवेणुधर्मवर्मशस्नावरणकारवः शुद्राश्च पश्चिमा दिशमधिवसेयुः । उत्तरपश्चिम- भागं पण्यभैषज्यगृहम् उत्तरपूर्वं भागं कोशो गवाश्वं च । तत परं नगरराजदेवतालोहमणिकारवो ब्राह्मणाश्चोत्तरा दिशमधिवसेयुः। वास्तुच्छिद्रानुलासेषु श्रेणीप्रवहणिकनिकाया आवसेयुः। (अ.,च.अ.प्र. 20,पृ. 91-92)

दुर्गा, विष्णु, जयन्त, इन्द्र, शिव, वरुण, अश्विनीकुमार, लक्ष्मी और मंदिरा, इन देवताओं की स्थापना नगर के बीच मे करनी चाहिये। कोष्ठागार आदि में भी कुलदेवता या नगरदेवता की

स्थापना करनी चाहिये। प्रत्येक दिशा के मुख्य द्वार पर उसके अधिष्ठाता देवता की स्थापना करनी चाहिए। उत्तर का देवता ब्रह्मा, पूर्व का इन्द्र, दक्षिण का यम और पश्चिम का सेनापति (कुमार) होता है। नगर की परिखा से बाहर दो सौ गज को दूरी पर पुण्यस्थान, उपवन और सेतुबन्ध आदि स्थानों की रचना और यथास्थान दिग्देवताओं की भी स्थापना की जानी चाहिए। नगर के उत्तर या पूरब में श्मशान होना चाहिए। दक्षिण दिशा में छोटी जाति वाले लोगों का श्मशान होना चाहिए। जो भी इस नियम का उल्लंघन करे उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाता था। कापालिकों और चाण्डालों का निवासस्थान श्मशानों के ही समीप बनवाया जाये। नगर में बसने वाले परिवारों को उनके अध्यवसाय तथा उनके योग्य भूमि की गुञ्जायश देखकर ही बसाया जाय। उन खेतों मे फूल, फल, साग-सब्जी, कमल आदि का क्यारियाँ बनाई जाए। राजा तथा राजपुरुष की आज्ञा प्राप्त कर उनमें अनाज तथा विक्रय योग्य वस्तुएं पैदा की जायें। दशकुलीबाट (बीस हलों से जोती जाने योग्य भूमि) के बीच सिंचाई के लिए एक कुआँ होना चाहिए। घी, तेल, इत्र, क्षार, नमक, दवा, सूखे साक, भूसा, सूखा मांस, घास, लकडी, लोहा, चमड़ा, कोयला, तांत, विप, सींग, बाँस, छाल, चन्दन या देवदारु की लकडी, हथियार, कवच और पत्थर इन सभी वस्तुओं को दुर्ग के अन्दर इतनी तादात में जमा होना चाहिये कि कई वर्षों तक उपयोग में लाने के लिए वे पर्याप्त हों। उनमें पुरानी वस्तु की जगह नई वस्तु रख देनी चाहिए। हाथी, घोडे, रथ और पैदल इन चारों प्रकार की सेनाओं को अनेक सुयोग्य सेनाध्यक्षों के सरक्षण मे रखा जाना चाहिए। क्योंकि अनेक सेनाध्यक्षों की नियुक्ति से पहिला लाभ तो यह है कि पारस्परिक भय के कारण वे शत्रु में जाकर नहीं मिल पाते और दूसरा लाभ यह है कि एक अध्यक्ष के फूट जाने पर दूसरा अध्यक्ष उसका कार्य सम्भाल सकता है। इन नगरों के निर्माण के नियमों के अनुसार ही जनपद की सीमा के दुर्ग और उनके प्रबन्ध का विधान समझ लेना चाहिये। राजा को चाहिए कि वह नगर में ऐसे लोगों को न बसने दे, जिनके कारण राष्ट्र तथा नगर का नैतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय स्तर गिरता हो। यदि इनको बसाना हो तो सीमा प्रान्त में बसाया जाय और उनसे राज्यकर वसूल किया जाय।

हस्त्यश्वरथपादातमनेकमुख्यमवस्थापयेत्। अनेकमुख्य हि परस्परभयात् परोपजाप नोपैतीति। एतेनान्तपालदुर्गसस्कारा व्याख्याताः।

न च वाहिरिकान्कुर्यात्पुरराष्ट्रोपघातकान्।
क्षिपेज्जनपदस्यान्ते सर्वान्वादापयेत्करान्॥

इस प्रकार वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का अध्ययन करते हैं तो हमें अनेक ऐसे प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि उस काल में भी वास्तुविद्या अपनी समुन्नत अवस्था में थी। प्रासाद आदि के निर्माण में वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का सम्यक्तया अनुपालन किया जाता था।

3.6 सारांश

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में वास्तुकला का उल्लेख प्राप्त होता है। वास्तुशास्त्र में जो शब्द कारीगरों के लिए प्रयुक्त होते हैं, उन्हीं शब्दों का प्रयोग रामायण में स्थपति, वर्धकी आदि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि कृत रामायण में चार प्रकार के दुर्ग बतयाए गए हैं- नादेय, गिरि, वन और मानव निर्मित दुर्ग। इसी प्रकार महाभारत में छ: प्रकार के दुर्गों का उल्लेख हमें प्राप्त होता है- धान्य दुर्ग, महि दुर्ग, गिरि दुर्ग, मानुष्य दुर्ग, मृद् दुर्ग तथा वन दुर्ग। सुरक्षा की दृष्टि से

इन दुर्गों के चारों ओर रक्षा-प्राचीर का निर्माण किया जाता था। अर्थशास्त्र में भी चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख प्राप्त होता है- औदक दुर्ग, पार्वत दुर्ग, धन्वान दुर्ग तथा वन दुर्ग। अर्थशास्त्र के जनपद निवेश नगरेतर वास्तु योजना पर प्रकाश डालने पर विविध प्रकार के बस्तियों का परिज्ञान होता है। ये हैं-ग्राम, स्थानीय, द्रोणमुख, कार्वटिक एवं संग्रहण। नगरों की आन्तरिक योजना दुर्ग निवेश का प्रतिपाद्य विषय है।इन्हीं प्रमुख विषयों का अपलोगों ने इस इकाई में अध्ययन किया।

3.7 शब्दावली

औदक दुर्ग – चारों ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत्त स्थल प्रदेश को औदक दुर्ग कहते हैं।

पार्वत दुर्ग – बड़ी- बड़ी चट्टानों तथा पर्वत की कंदराओं के रूप में निर्मित दुर्ग पार्वत दुर्ग कहलाता है।

धान्वन दुर्ग – जल तथा घास-फूस से रहित तथा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग धान्वन दुर्ग कहलाता है।

वन दुर्ग – चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा काँटेदार सघन झाड़ियों से परिवृत्त दुर्ग, वन दुर्ग कहलाता है।

3.8 अभ्यास प्रश्न

1. रामायणकालीन वास्तु कला पर प्रकाश डालिये।
2. अर्थशास्त्र में वर्णित दुर्ग निर्माण विधि को विवेचित कीजिये।
3. महाभारतकालीन वास्तु के स्वरूप पर निबन्ध लिखिये।
4. कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में वास्तु योजना को व्याख्यायित कीजिये।
5. अर्थशास्त्रीय दुर्ग निवेश प्रविधि को प्रकाशित कीजिये।

3.9 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, कृष्णदत्त वाजपेयी,हिन्दी समिति, हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, 1972।
2. समरांगणसूत्रधार, अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू एवं प्रो. भँवर शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 2017।
3. मयमतम्, अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 2019।
4. विश्वकर्मप्रकाश, लेखक- महर्षि अभय कात्यायन,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2019।
5. वास्तुरत्नवाली, डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू, चौखम्बा ओरियंटालिया,दिल्ली,2009।
6. भारतीय वास्तुशास्त्र,महादेव प्रासाद शुक्ल, वास्तुवाङ्मय प्रकाशनशाला, लखनऊ।
7. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, व्याख्याकार-वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984।

इकाई 4 तन्त्र एवम् आगम में वास्तु

इकाई की रूपरेखा

4.1 उद्देश्य

तन्त्र एवं आगाम में वास्तुशास्त्र के वर्णन से सम्बन्धित इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- वास्तुशास्त्र एवं भारतीय संस्कृति के विषय में बता सकेंगे
- वास्तुशास्त्र के प्रधानाचार्य के विषय में भी बचा सकेंगे।
- पंचमहाभूत अका वास्तुशास्त्र में क्या स्थान है, यह भी उल्लेख कर सकेंगे ।
- तन्त्रके ग्रन्था में वास्तुशास्त्र की रूपरेखा को बता सकेंगे।
- आगम मे वास्तुशास्त्र की अवधारणा को स्पष्ट कर पाएंगे।

4.2 प्रस्तावना

तन्त्र एवं आगम ग्रन्थों में वास्तु विषयक ज्ञान के सम्बन्ध मे हम इस इकाई के माध्यम से जानने का प्रयास करेगें। चूंकि अठारह आचार्य वास्तुशास्त्र के हुए है। अठारह आचार्यों द्वारा अपने–अपने मतानुसार एवं अपने–शोध अनुसन्धान के अनुसार वास्तु से सम्बन्धित शास्त्र विषयक उल्लेख प्राप्त होते है। तन्त्र के ग्रन्थों में या आगम शास्त्र में केवल मन्त्र एवं तन्त्र का ही संग्रह नहीं है अपितु इन ग्रन्थों में मानव के कल्याणार्थ अनेकों उपायों का उल्लेख समाहित है। इसी विषयक आगम ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र के विषय में जो वर्णन उपलब्ध है। वह इस प्रकार है आगम साहित्य के अन्तर्गत शैवागमों की 12 संख्या है। जिसमें ज्ञानपाद, योगपाद चर्यापाद तथा क्रियापाद है। क्रियापाद में वास्तुकला का उल्लेख प्राप्त हैं। इनमें से 62 अध्यायों का विषय वास्तुकला एवं मूर्तिरचना से सम्बन्धित है इस प्रकार से जन सामान्य इस ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो इस उद्देश्य के सन्दर्भगत इस इकाई में इम अध्ययन करेंगे।

4.3 वास्तुशास्त्र एवं भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति का पुरूषार्थ चतुष्टय से सीधा सम्बन्ध रहा है और हमारे ऋषियों का भी प्रमुख उद्देश्य था कि किस प्रकार से प्राणीमात्र का कल्याण किया जाये, और जीवन से मुक्ति प्राप्त हो क्योंकि संसार की सभी विद्यायें वह धर्मशास्त्र हो चाहे वह भिन्न–2 सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले अन्य शास्त्र हो लेकिन उनका प्रमुख उद्देश्य इस भौतिक जगत में सुख–समृद्धि एवं अभिवृद्धि को प्राप्त करवाना है इस उद्देश्य से यदि हम अपने ऋषियों मुनियों द्वारा रचित धर्मशास्त्र–पुराण इतिहास आदि का ठीक से अध्ययन करे तो अतिंम निर्णय मोक्ष की प्राप्ति के लिए मिलता है। परन्तु आधुनिक भौतिक जगत में इस सम्पूर्ण परिभाषा को परिवर्तित करके इसमें एक नया मोडला दिया है जिसके कारण आज प्राणि सबकुछ होते हुए भी दुःखी नजर आता है। क्योंकि इस सब का मूल कारण है कि आज लोगों ने धर्म ओर मोक्ष को छोड दिया है उनकी मानसिकता जो कि कल तक सकारात्मक रुप में थी आज नकारात्मकता में बदल चूकी है। आज वह केवलमात्र दो बिन्दुओं को लेकर ही अपने आप को सर्वसम्पन्न एवं सुखी मानता है जबकि ऐसा नहीं है वस्तुतः अर्थ की उत्पत्ति का प्रमुख उद्देश्य यहां पर काम की परिपूर्ती करना नहीं था वल्कि धर्म के द्वारा अर्थात् कि भी जीव को कायिक–वाचिक एवं मानसिक रूप से प्रताडित न करते हुए अर्थपूर्ण करना था न कि इन सभी के विपरीत अर्थोपार्जन करना। क्योंकि आज हमारा अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर हमारा मन–वचन एवं कर्म–ः तीनों से मात्र अर्थ की प्राप्ति को करना रह गया है और अब हम इस प्रकार से अर्थ प्राप्ति करेंगे तो सम्भवतः हमारी सम्पत्ति है गृह जिसमें हम सारा दिन अपनी दैनिक दिनचर्या को करने के उपरान्त लौटते है लेकिन फिर भी निंद्रा एवं मानसिक संतुष्टि प्राप्त नही होती यह कैसे प्राप्त की जाये जिसमें वेदों का मुख्य उद्देदय था कि ''इष्ट प्राप्ति निष्ट परिहाराय च'' अर्थात् इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का परिहार करना। अब इष्ट क्या है ? मन की इच्छाओं के अनुकूल सुख–साधनों की प्राप्ति करना ही इष्ट है। इसके विपरीत जो कुछ भी है वह अनिष्ट है। क्योंकि **''मनोऽनुकुलं सुखम् मनः प्रतिकूलम दुखम्''** मन की अनुकूलता प्रतिकूलता को दूर करने के लिए हमें एक घर की आवश्यकता रहती है वह घर यदि वास्तुशास्त्र के नियमों के अन्तर्गत बनाया जाये तभी मनुष्य को मानसिक शान्ति संभव है। वास्तु का अर्थ निवास से है। वास्तु शब्द की उत्पत्ति व्याकरण के **''वस् निवासे''** धातु से है जिसमें तुण् प्रत्यय करने पर वास्तु शब्द निष्पन्न होता है। जहां मनुष्य निवास करते है उसे वास्तु कहते है। इसके बहुत भेद हैं जैसे घर, मन्दिर, विद्यालय, ग्राम, नगर, बाजार, शहर इत्यादि सभी स्थान वास्तु के प्रतीक है। अतः सर्वप्रथम वास्तु में निवास के शुभाशुभ को जानना आवश्यक हैं क्योंकि शुभ वास्तु में निवास करने से धन–धान्य भाग्य एवं सुख–समृद्धि की वृद्धि होती है तथा इसके विपरीत यदि हम निवास करते है तो इन सभी का ह्रास होता है क्योंकि हमारे यहां ही नही वल्कि सम्पूर्ण विश्व की आदि रचित एवं प्राचीन पुस्तक वेद को माना गया है और इन्ही वेदो को मूल आधार बना कर शास्त्रों की रचना की गई है। और इस विषय से सभी अवगत हैं कि चार वेद है और इनके चार ही उपवेद है। जैसे ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद सामवेद का गान्धर्व वेद, और अथर्ववेद का स्थापत्यवेद। इन चारों वेदो एवं उपवेदों का अलग–अलग विधाओं से मनुष्य को सुख–समद्धि युक्त करना ही मुख्य उद्देश्य है। स्थापत्य वेद का सम्बन्ध सीधा यहां पर स्थापना से है वह है गृह निर्माणादि का निर्माण करना। ऋग्वेद में एक वर्णन में ऋषि प्रार्थना करता है एक **ऋचा में** कि है वास्तोष्पति। आप हमारे मन की भावनाओं को जानो। और रोग रहित होये, कृपया

सुख–समृद्धि एवं धन की हम आपसे कामना करते है उसे हमें प्रदान करें। आप हमारे दो पैर वाले चार पैरों वाले जीवों के लिए कल्याणप्रद हो।

अन्य दूसरी ऋचा में उल्लेख मिलता हि है वास्तोष्पते ! इस संसर रूपी नौका से तारने वाले हो, धन की वृद्धि करने वाले हो! हे सोम गायों एवं अश्वों से परिपूर्ण हो कर निरोगी होये। तेरा हमारा मित्रवत् व्यवहार हो! जिस प्रकार से पिता अपने पुत्रो की हर दृष्टि से लालन–पालन करता है ठीक उसी प्रकार से हमारी भी रक्षा करें।

हे वास्तोष्पति हम आपसे कामना करते है कि हमारे लिए अधिदैविक–आधिभौतिक–एवं आधिलौकिक तीनों प्रकार के सूखो से युक्त एवं रमणीय उत्तरोत्तर प्रगतिशील, आपकी सभा मे हमें स्थान प्राप्त हो। इसी प्रकार की सभा के (संसद) प्रतिभागी होयें। हमारे प्राप्त हुए धन की एवं अप्राप्य धन की सदैव रक्षा करें। क्योंकि विश्व बन्धुत्व की भावना से युक्त होकर हम सम्पूर्ण विश्व का कल्याण करें इस प्रकार के साधनों को हमारे लिए सुरक्षित रखें।

उपर्युक्त तीनों ऋचाओं का सीधा–2 अर्थ है कि हम लोगों की तीनों प्रकार के दुख, आदि दैविक, आदि भौतिक एवं आदि लौकिक इत्यादि सब ओर से हमारी रक्षा करें क्योंकि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की हर दृष्टि से लालन–पालन एवं दोषों को दूर करता हुआ गुणों की अभिवृद्धि करना चाहता है ठीक उसी प्रकार से आप भी हमारी सभी ओर से रक्षा करें लेकिन उपर्युक्त ऋचाओं के प्रारम्भ में वास्तोष्पति शब्द की पुनरावृति हुई है जिसका सीधा अर्थ है गृहस्वामि से अर्थात् हमारे ही परिवार के एक ऐसे सदस्य के लिए संकेत है जो घर में ज्येष्ठ है, घर–परिवार सम्बन्धियों एवं मित्र–शत्रु की गतिविधियों से अवगत है और इन सभी से प्राप्त होने वाले हितकर एवं अहितकर सभी प्रकार के गुण दोषों से परिचित है। लेकिन आज इससे विपरीत परिस्थिति होने के कारण ही आज लोग प्रायः दुःखी है क्योंकि आज हम अपने गृह के सबसे बडे सदस्य को वह आदर व सत्कार की भावना ही नहीं रखते क्योंकि वास्तोष्पति को ईश्वर का स्वरूप माना गया है। भारतीय संस्कृति में ''यत् पिण्डें तत् ब्रह्माण्डे'' की मात्र कोरी कल्पना नहीं है क्योंकि प्रति जीव में ईश्वर का वास है उसी ईश्वर का वह भी एक अंग है तो गृहपति ही वास्तोष्पति है।

अतः यदि हम आज अपने गृहपति की भावनाओं का आदर सत्कार नहीं करके उनके बनाये बये नियमों एवं आदेशों का उल्लंधन करेंगे तो कभी भी हमें सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि एक दिन उसी पिता को भी गृहपति बनना है और पुत्र को पिता। यह हमारे संस्कारों का एक उदाहरण है जो की मानसिक सुखों में सबसे बडी बाधा का कारण बनता है। भारतीय संस्कृति में देव पूजा का मुख्य रूप से परिचलन है यहां हर पिण्ड को देवता एवं ईश्वर का रूप माना गया है इस संस्कृति में साकार रूप से एवं निराकार रूप दोनों ही प्रकार से पूजा की जाती है। वैदिक संहिताओ के अनुसार वास्तोष्पति ईश्वर का ही एक रूप है क्योंकि वे इस सम्पूर्ण विश्व के स्वामि है यदि हम अठारह पुराण **आगम** एव निगमों का अध्ययन करें तो उसमें आरोह क्रम से वास्तुपुरुष एक उपदेवता है उससे उपर ब्रह्म विष्णु–रूद्र–इन्द्र–लोकपाल आदि सहित 45 देवताओं की स्थिति स्पष्ट होती है जो वास्तुपुरूष का कल्याण करते हैं। अग्नि, भविष्य, नारद, यत्स्यादि पुराणों में विशेष रूप से वास्तुविद्या का उल्लेख मिलता है लेकिन वास्तुपुरूष क्या है? उसका स्वरुप आकार प्रकार कैसा है इसका उल्लेख हमें मत्स्यपुराण में मिलता है।

4.3.1 वास्तुशास्त्र के प्रधान आचार्य

वास्तुशास्त्र की पृष्ठभूमि पर विचार किया जाए तो भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनके दृष्टि के अन्तर्गत भारतीय वास्तुशास्त्र का सम्बन्ध मानव की सृष्टि के आरम्भ काल से ही है। मानव का अवतरण ब्रह्मा द्वारा रचित इस सृष्टि का जब भी आज से लाखों वर्ष पूंर्व हुआ तब से लेकर वर्तमान युग तक मनुष्य सर्दी, गर्मी से बचाव हेतु अपने तन एवं मन को कैसे सुरक्षित रखा जाए इस उद्देश्य के साथ प्रारम्भिक काल में जगलों में झोपडीयों में तथा गुफाओं में अपना निवास बनाया होगा। शनैः—शनैः विकास के साथ—साथ जैसे—जैसे समय व्यतीत होता गया उसी के साथ—साथ मानव सृष्टि संरचना में वृद्धि होना, परिवारवाद का पनपना इन समस्त क्रियाओं के साथ मानव ने झोपड़ीयों और गुफाओं से निकलकर गृह निर्माण, पर्णकुटी, महल, बंगला, ग्राम, शहर, कस्बों का विकास के रूप में आज आप सभी देख रहे है। वास्तुशास्त्र के प्रारम्भिक काल के रूप में वेदों पुराणों एवं स्मृतियों के अध्ययन से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि वेदों से भी पहले तन्त्र एवं आगम शास्त्रों में भी वास्तुशास्त्र का वर्णन उपलब्ध होता है। मत—मतान्तरो के विषय में यदि इस विषयगत ध्यानाकर्षण किया जाए तो वैदिक कालीन संस्कृति से पूर्व कही तन्त्र एवं आगम का काल रहा होगा। परन्तु प्रामाणिक रूप में आज हमारे पास विश्व की सबसे प्राचीन पुस्तक वेद है जिसको भारतीयों ने ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व ने स्वीकार किया है। यदि हम वेद, तन्त्र तथा आगम एवं शैव शास्त्रों को छोड दे ंतो स्मृतियों में भी वास्तुशास्त्र विषयगत साहित्य प्राप्त होता है। जैसे महर्षि नारद रचित, नारद स्मृति, महर्षि पाराशर रचित पाराशर स्मृति, महर्षि मनुरचित मनुस्मृति इत्यादि वास्तुशास्त्र के अनेकों द्रष्टा ऋषि हुए हैं जिन्होंने वास्तुशास्त्र को ज्ञान और विज्ञान की कसौटी पर परखकर दिशागत एवं दशागत स्थिति के अनुसार शास्त्र का निर्माण किया है। वास्तुशास्त्र की वैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि के आधार पर हमारे पास वेद, उपनिषद, तन्त्र, आगम, पुराण एवं स्मृतियां है जिनके आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार हम निरन्तर प्रगतिशील है आधुनिक परिप्रेक्ष्य में यदि वास्तुशास्त्र के विषय में विचार करें तो वास्तुशास्त्र का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित होता जा रहा है जिसका सबसे बड़ा कारण शहरीकरण भी है। शहरीकरण के कारण आज के परिप्रेक्ष्य में लोगों के अन्दर एक होड़ लगी हुई है कि दिशा और दशा दोनों को ध्यान में न रखते हुए बहुमंजिला भवनो का निर्माण किया जा रहा है जिसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम है आज सबसे बड़ा शारीरिक स्वास्थ एवं मानसिक चिन्तन में नकारात्मकता जिसके फलस्वरूप आज मानव के पास समस्त आधुनिक भौतिक सुख—सुविधायें होने के फलस्वरूप भी मानव परेशानी से जूझ रहा है। वास्तुशास्त्र के अठारह आचार्य हुए है जिन्होने शोध एवं अनुसन्धान करके शास्त्र का निर्माण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि अमुक दिशा में निवास करने पर क्या प्रतिफल मिलने वाला है। विभिन्न वर्णों की मिट्टी का परीक्षण करके मिट्टी के वर्णनुगत मानव के वर्णानुसार सम्बन्ध स्थापित करते हुए उपयुक्त भूमि एवं नकारात्मकता, सूर्य एवं पृथ्वी की परिभ्रमणवशात् होने वाले स्थिति से पूर्व में ही ज्ञान की प्राप्ति हो इस विषयगत हमारे वास्तुशास्त्र के आचार्यों के विषय में भी भिन्न—भिन्न मत हैं। जिसमें मत्स्य पुराण की सूचि में वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक अठारह आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है।

भृगुरत्रिवसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नरदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः।।

ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनकोगर्ग एवं च।
वसुदेवोऽनिरूद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।।

अर्थात् 1. भृगु 2. अत्रि 3. वसिष्ठ 4. विश्वकर्मा 5. मय 6. नारद 7. नग्नजित् 8. विशालाक्ष 9. पुरन्दर 10. ब्रह्मा 11. कुमार 12. नन्दीश 13. शौनक 14. गर्ग 15. वासुदेव 16. अनिरूद्ध 17. शुक्र 18. बृहस्पति ये अठारह वास्तुशास्त्रोपदेशक मत्स्यपुराण के अनुसार हुए हैं।

अग्निपुराण के अनुसार वास्तुशास्त्र के उपदेशकों की सूची इससे भी अधिक लम्बी है जिसमें पच्चीस आचार्यों के नामो का उल्लेख किया गया है।

जैसे –

व्यस्तानि मुनिभिर्लोके पञ्चविंशति संख्यया।
हयशीर्षं तन्त्रमाधं तन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम्।।

वैभवं पौष्करं तन्त्रं प्रहलादं गार्ग्यगालवम्।
नारदीयं च सम्प्रश्ष्नं शाण्डिल्यं वैश्वकं तथा।।

सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वसिष्ठं ज्ञान सागरम्।
स्वायम्भुव कापिलञ्च ताक्ष्य नारायणीकम्।।

आत्रेयं नारसिंहारव्यमानन्दाख्यं तथारूणकम्।
बौधायन तथार्षं तु विश्वोक्तं तस्य सारतः।।

मानसार के अनुसार और भी लम्बी सूचि वास्तुशास्त्र के आचार्यों की उपलब्ध होती है। जिसके अनुसार वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य बत्तीस बताये गये हैं।

विश्वकर्मा च विश्वेशः विश्वसारः प्रबोधकः।
बृतश्चैव मयश्चैव त्वष्टा चैव मनुर्नलः।।

मानविन्मान कल्पश्च मानसारो बहुश्रुतः।
प्रष्टा च मानबोधश्च विश्वबोधो नयस्तथा।।

आदिसारो विशालाक्षः विश्वकाश्यय एव च।
वास्तुबोधो महातन्त्रो वास्तुविद्यापतिस्तथा।।

पाराशरीयकश्चैव कालयूपो महाऋषिः।
चैत्याख्यः चित्रकः आवर्यः साधकसारसहितः।।

भानुश्चेन्द्रश्च लोकज्ञः सौराख्यः शिल्पिक्तिमः।
ते एव ऋषयः प्रोक्ता द्वात्रिशंति संख्यया।।

1. विश्वकर्मा 2. विश्वेश 3. विश्वसार 4. प्रबोधक 5. मय 6. त्वष्टा 7. मनु 8. नल 9. मान 10. विन्मान 11. कल्प 12. मानसार 13. बहुश्रुत 14. प्रष्टा 15. मानबोध 16. विश्वबोध 17. नय 18. आदिसार 19. विशालाक्ष 20. विश्वकाश्यप 21. वास्तुबोध 22. महातन्त्र 23. वास्तुविद्यापति 24. पाराशर 25. कालयूप 26. चैत्य 27. चित्रक 28.

वास्तुविद्यापति 29. साधक 30. भानु 31. सौर 32. शिल्पि ये मानसार के अनुसार बत्तीस आचार्य वास्तुशास्त्रों पदेशक है।

विश्वकर्मा प्रकाश के अनुसार वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों के विषय में संक्षिप्त उल्लेख प्राप्त होता है।

इति प्रोक्तं वास्तुशास्त्रं गर्गायधीमते।
गर्गात्पराशरः प्राप्तस्तस्मात्प्राप्तो वृहद्रथः।।

वृहद्रथाद्धिश्वकर्मा प्राप्तवान वास्तुशास्त्रकम्।
स एव विश्वकर्मा जगतो हितायाकथयत्पुनः।।

इस प्रकार से विश्वकर्मा प्रकाश में उल्लिखित नामों के अनुसार गर्ग, पाराशर, वृहद्रथ तथा विश्वकर्मा ये वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यदि विस्तृत रूप से विवेचन करें तो वास्तविक रूप से गर्ग, पाराशर, वृहद्रथ तथा विश्वकर्मा ही वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य माने गये है। अग्निपुराण एवं मानसार की सूचियां काल्पनिक प्रतीत होती हैं। जिनमें पुनरूक्ति दोष की भी अभिव्यक्ति होती है। मत्स्यपुराण में उल्लिखित अठारह आचार्य ही वास्तविक रूप से वास्तुशास्त्रोपदेशक है। परन्तु विभिन्न शास्त्रों में अग्निपुराण एवं मानसार आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिसके कारण वास्तुशास्त्र ज्ञान के पिपासु भ्रमित न हो इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त का उल्लेख करना भी परमावश्यक होगा।

4.3.2 वास्तुशास्त्र एवं पञ्चमहाभूत

यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्ड में प्रमुख पांच तत्व है पृथ्वी, आकाश, जल, वायु, तेज(अग्नि) और इन्ही पांचो तत्वो के निर्माण से सृष्टि की उत्पति हुई हैं अतः इन्ही पांचो तत्वो को यदि विपरीत स्थिति में स्थापित कर देगें तो **अवश्यमेव** गम्भीर समस्याओं से ग्रसित होना पडेगा। जैसे जल के स्थान पर अग्नि और अग्नि के स्थान पर वायु को रखेंगे। क्योंकि ये सभी तत्व आपस में शत्रु हैं उसी प्रकार से गृह निर्माण में भी इन्ही तत्वों की अहम भूमिका रहती है। अतः यदि हम इस पंचभूतात्मक सृष्टि के अनुसार गृह निर्माण में पांचो तत्वों का **विनिवेश** करें तो अवश्य मेव सुख–सौभाग्य–समृद्धि की अभिवृद्धि, रोग–शोक आधि–व्याधि से रहित होकर अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। पञ्चमहाभूतों में आधार स्वरूप एवं आश्रय स्वरूप केवल पृथ्वी ही है यही पृथ्वी संसार के समस्त जड़ चेतन एवं जीवों को आश्रय स्वरूप हमारी माता है। समस्त विश्व को धारण करने के कारण इसको आधार शक्ति भी कहा है। पञ्चभूतात्मक इस शरीर में अधिकांश पृथ्वी तत्व का ही समावेश है। पृथ्वी तत्व के उपरान्त शरीर रचना में जल,तेज, वायु तथा आकाश का अंश उत्तरोत्तर कम होता जाता है। आवास की दृष्टि से यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो यह पञ्चमहाभूतों मे ंक्रम इसी प्रकार से पाया जाता है। भवन निर्माण सबसे अधिकभाग भूतत्व का उससे कम जल तत्व का भाग और उससे कम तेज तत्व का योगदान रहता है। यही स्थिति सम्भवतः इस पञ्चभूतात्मक शरीर संरचना में रहती है। इसलिए तो भारतीय दार्शनिकों का **"यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे"** का सिद्धान्त पुष्टि करता है। इसी पृथ्वी को भूदेवी, श्रीदेवी, चिन्मयी भी कहते है। चिन्मयी देवी इस स्थूल पृथ्वी की अधिष्ठात्री है। अथर्ववेद के

पृथ्वी सूक्त में इसके आधिभौतिक एवं आधिदौविक दोनो स्वरूपों की स्तुति की गई है। तथा।–

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरं कृतम्, भूम्यां मनुष्या जीवन्ति।
स्वधयान्नेन मर्त्याः। सा नो प्राणमायुर्ददातु, जरदष्टिं या पृथिवीकृणोतु।।

जैसा कि उपर्युक्त में ऋषि को भूमि माता के सदृश दृष्टिगोचर होती है। इसलिए इन्होंने भक्ति एवं श्रद्धा पूर्वक भूमि का गुणगान किया है भूदेवी अपने सेवक के लिए साक्षात् मां के रूप में स्थित हो जाती है। यही कारण है कि मानव का **"पृथ्वी से नैसर्गिक एवं भावनात्मक सम्बन्ध है"** वेद में ऋषि का कथन है –

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"

जल– पृथ्वी तत्व के बाद उत्तरोत्तर कमी के क्रम में जल तत्व का स्थान आता है। प्रायः ऐसी उक्तियां जनसामान्य सम्पूर्ण विश्व के जीव एवं जन्तु तथा वनस्पतियों के लिए जल का महत्वपूर्ण स्थान है। **"जल है तो कल है"** प्राणधारियों के शरीर में 80 प्रतिशत मात्रा जल की होती है। जबकि वनस्पति में यह मात्रा कहीं अधिक पायी जाती है। भूमि के लगभग दो तिहाई भाग में जल पाया जाता है जो सागरों, नदियो झीलों, जलाशयों एवं कुओं के रूप में स्थित है। इसलिए भवन निर्माण के लिए एवं भवनवासियों के लिए जल की सुविधा उचित मात्रा में हो इस हेतु से बोरिंग, नलकूप, कुँआ, भूमिगत जलस्थान, ओवरहैड टंकी, एवं सममान्य नल आदि से जल की आपूर्ति एवं भण्डारण क निविध संसाधनों की उचित व्यवस्था का विचार इस शास्त्र के द्वारा किया जाता है।

तेज– भूमि तत्व एवं जल तत्व के उपरान्त भूमि भवन एवं शरीर की गतिविधियों को सुचारू रूप से संचालित करने के हेतु से तेज तत्व की अहम प्रधानता है। तेज तत्व के बिना प्राणी जगत हो या वनस्पति जगत दोनों का ही जीवन अधूरा है। वास्तव में प्राणधारियों में जो चेतना विद्यमान है वही प्राण है। तथा **"अग्निर्वै प्राण"** अर्थात् अग्नि ही प्राण है। अग्नि के विषय में बारंबार वेदों में अमृत कहा गया है यह अमृततत्व ही प्राण है। अग्नि ही वह अमृतदेव है जो मर्त्य भूतों में समाविष्ट है। **"इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु"** अर्थात् अग्नि मर्त्यभूतों में अमृतज्योति है। इसलिए यही जीवन है। इस भौतिक शरीर में जब तक तेज है तब तक प्राणधारियों की सत्ता है। तेज के समाप्त होते ही शरीर की सत्ता समाप्त हो जाती है। इन पञ्चमहाभूतों से निर्मित शरीर बिना प्राण के अस्थियों का पिञ्जर विद्यमान है यह तेज ही तत्व है जो क्षेत्रज्ञ प्रजापति के रूप में विद्यमान हो जीवित रखता है। तेज तत्व का मुख्य स्रोत सूर्य है। इसलिए सूर्य को जगत की आत्मा के रूप में सूर्य को स्थापित किया गया है। वेद में वचन है –

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष ँ् सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।।

भवन निर्माण करते समय सूर्य के प्रकाश, ताप, उष्मा तथा ऊर्जा की सम्यक् प्राप्ति को ध्यान में रखते हुए भूखण्ड की स्थिति के विचार के साथ–साथ द्वारस्थापन, बरामदा, रसोईधर, खिड़कियों झरोखों तथा खुलेस्थान का विचार करते हुए अग्नितत्व की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। अतः भवन निर्माण में अग्नि तत्व से सम्बन्धित समस्त उपकरणों की स्थापना आग्नेय कोण में ही की जानी चाहिए यह वैज्ञानिक आधार भी है और यही शास्त्रीय निर्देश भी प्राप्त होता है।

वायुतत्व– चतुर्थ तत्व पञ्चमहाभूतों में प्रधानरूप से कार्य करने वाला है। वायु तत्व अध्यात्मिक देव वायुदेव है। जीव जगत में वायुतत्व का महत्व अत्यधिक है। प्राणधारी जीव भोजन के बिना एक से दो माह जल के बिना भी योगादि क्रियाओं के माध्यम से एक से दो माह तक जीवित रह सकता है। परन्तु वायु के बिना तो वह पांच मिनट भी नहीं रह सकता है इसलिए वायु तत्व का गृहनिर्माण में समुचित स्थान वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप यदि होगा तो देहधारियों के लिए वायु मिलती रहेगी। स्वस्थता के सिद्धान्त पर कार्य करता रहेगा विज्ञान के अनुसार पृथ्वी के चारों ओर एक गैसीय पदार्थ का आवरण है जिसे वायुमण्डल कहते है। विभिन्न गैसों तथा तत्वों से युक्त यह वायुमण्डल पृथ्वी के चारों ओर लगभग 3200 कि0मी0 से भी अधिक मोटी परत के रूप में विद्यमान है। पृथ्वी वायुमण्डल की इस परत को गुरूत्वाकर्षण के कारण धारण किये हुए है। श्रुतियों में वायुमण्डल के मेल से वराह का नाम दिया गया है। वराह का अर्थ है **"वृ"** धातु पूर्वक **"अह"** के मेल से वराह शब्द का निर्माण हुआ है। इसका शब्दिक अर्थ हैं कि चारों ओर की वायु पृथ्वी पिण्ड को घर लेती है अथवा आवरण किये हुए है पृथ्वी पर जलचर, नभचर, स्थलचर, अपितु पेड़–पौधे व वनस्पति जगत भी वायु के सहारे ही जीवित रहते हैं। यदि पृथ्वी वायुविहीन होती तो पृथ्वी पर न बादल होते न वर्षा होती न झरने, नदियां, सागर होते। वायुवेग से ही इनका सत्त प्रवाह है। वायुमण्डल में अनेकं प्रकार की गैसों का समिश्रण है इन्ही गैसों में कुछ जीवनदायिनी है और कुछ विषदायिनी है। सृष्टि का अपना क्रम है। वायुमण्डल में ओजोन गैस पाई जाती है। जिसकी ऊपरी परत सूर्य की पराबैंगनी किरणों को सोख लेती है। जिसके कारण पृथ्वी पर पडने वाले भयंकर ताप से जीवन की रक्षा होती है। वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों में भवन निर्माण के लिए विशुद्ध वायु के समुचित आवागमन के लिए भूखण्ड के आस–पास के वातावरण, खुलीजगह, खिडकियां, दरवाजे तथा भवन की छत के साथ–साथ विशुद्ध वायु की प्राप्ति हेतु पर्यावरण की दृष्टि से वृक्षारोपण का विचार किया गया है जिससे भवनवासियों को वायु का शुद्ध और सन्तुलित लाभ मिल सके।

आकाश तत्व – पूर्वोक्त चारों तत्वों में उत्तरोत्तर क्रम में कमी हो सकती है। परन्तु जैसे–जैसे मानव जीवन के विषय में विचार करें वैसे–वैसे जीवनरक्षा के हेतु से प्रत्येक तत्व अहम् योगदान रखता है । इसलिए जीवन रक्षा के क्रम में एक भी तत्व का अभाव जीवन को अस्वस्थता एवं जीवन को काल के ग्रास की ओर ले जा सकता है। अतः चारों महातत्वों का आपने आप में व्याप्त करने रहने वाले आकाश तत्व का अपना विशेष महत्व है। आकाशतत्व स्वयं स्थान नहीं लेता अपितु समस्त चार महाभूतों के साथ–साथ समस्त भूखण्ड, ग्रह पिण्डादि आकाशस्थ पिण्डों को अपने में स्थान दिये हुए है। चारों महाभूतो में पृथ्वी के समस्त अणु, परमाणु, जीव जगत, वनस्पति जगत, इसी क्रम में पार्थिव परमाणुओं द्वारा निर्मित लोक–लोकान्तर समस्त पिण्ड आकाश में स्थित है। तेजोमय पिण्ड सूर्यादि समस्त ग्रह, असंख्य तारागणों के समूह, अग्नि, विकार यहां पर प्रयोजन सिद्ध करने वाले समस्त उपकरण चाहे वह दीपक हो या चूल्हा, भट्टी इत्यादि ही क्यों न हो ,सभी को आकाश ने स्थान प्रदान किया है। इसी प्राकर वायु वेग आंधी तूफान इत्यादि समस्त जड़–चेतनादि द्रव्य आकाश में ही विद्यमान हैं। इस सफल ब्रह्माण्ड मे आकाश के कारण ही पृथ्वी, जल तेज तथा वायु कभी एक साथ इकट्ठे नहीं होते चूंकि यदि कभी–कभार ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर दृष्टिगोचर होता है। कि तेज तत्व एवं वायु जब आपस कई जगह एक धूल का गुब्बारा बनाकर सामान्य जन को उस चक्राकार गुब्बारे के माध्यम से तीव्रगति से घुमाव के कारण भय पैदा कर देते हैं। इसलिए चारों तत्व यदि आकाश में समाहित हो जायेंगे उसका परिणाम क्या होने वाला है स्वतः ही आप जान सकते है। जब कभी सृष्टि के आरम्भ काल में यह चारों तत्व पृथ्वी जल तेज और वायु आकाश में स्वर्णमय

मण्डल रूप अवस्थित थे , तब ईश्वरीय इच्छा के अनुरूप सृष्टि रचना के उद्देश्य से उसी स्वर्ग रूपी मार्तण्ड से प्रत्येक पिण्ड अलग हुआ और पञ्चमहाभूतों की उत्पति हुई। आज सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दृश्य रूप में स्थित समस्त जड़ चेतन प्राणी जगत, जीवजगत, वनस्पति जगत, ग्रह, नक्षत्र, सितारे सूर्यादि असंख्य पिण्ड इसी आकाश के गर्भ में पल्लवित हो रहे हैं। जिस प्रकार से जीव–जगत, या जड़ अथवा चेतनशील वनस्पतियों को अपने को पल्लवित एवं पुष्पित होने के लिए खुला स्थान चाहिए ठीक इसी प्रकार से भवन के मध्य एवं बाहरी परिवेश में भी यदि खुला स्थान रहेगा तो स्वतः शारीरिक एवं मानसिक विकास, स्वस्थ मन एवं मस्तिष्क की स्थिति का वातावरण रहेगा । जिससे प्राणीजगत स्वछन्द एवं स्वतन्त्र विचार धारा के साथ समस्त कल्याणकारी कियायें प्रतिकियायें करने में सक्षम हो पायेगा।

4.3.3 तन्त्र एवम् आगम में वास्तुशास्त्र

वास्तु के निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं प्रविधियों का ज्ञान अनेक प्रकार के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जैसे अथर्ववेद, शुल्वसूत्र साहित्य, कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, शुक्रचार्य रचित शुक्रनीति, नाटयशास्त्र, नाट्यप्रतिपादक ग्रंथ एवं पुराण एवं भुक्ति एवं मुक्ति प्रदान करने वाले आगम ग्रंथ। इन ग्रन्थों में वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तपरक वास्तु से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध हो जाती है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी वास्तुकला से सम्बन्धित तीन प्राचीन परम्परायें प्रायः लोक में प्रचलित हैं।

जिनमें 1. शैव 2. ब्रह्मा 3. मय हैं। यहां पर विशेष ध्यान देने योग्य विषय है कि इन परम्पराओं का उल्लेख जिस कालखण्ड में लिखा गया, जिस कालखण्ड में ये परम्परायें परस्पर इतनी प्रभावित हो चुकी थी कि उनके परस्पर भेदो के विशेष लक्षण प्रायः समाप्त हो चुके थे। इन्ही परम्पराओं को आधार बनाकर अठारह आचार्यों द्वारा अपने–अपने मत–मतान्तरानुसार इस विशाल वास्तुशास्त्र रूपी साहित्य की रचना की गई थी। सर्वविदित है कि शुक्रनीति में शुक्रचार्य द्वारा नीतियों के विषय में चर्चा परिचर्चा का विषय समाहित है। ठीक उसी प्रकार से कौटिल्य का अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र से सम्बन्धित विधाओं एवं नीतियों का उल्लेख समाहित है! परन्तु प्रमुख विषय से इतर यह भी आवश्यक है कि जहां अर्थशास्त्र की चर्चा परिचर्चा होगी वहां पर आवास से सम्बन्धित भी विषय की चर्चा हो सकती है, ठीक इसी प्रकार से कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं शुक्रचार्य प्रणीत शुक्रनीति ग्रन्थों में कुछ ऐसे विषय उपलब्ध होते हैं जिसमें वास्तुशास्त्रीय विषयगत ज्ञान समाहित है। इसलिए प्राचीन साहित्य में कहीं न कहीं वास्तुविषयगत चर्चा सभी ग्रन्थों में उपलब्ध है। अतः वास्तुकला से सम्बन्धित जो सामग्री इन ग्रन्थों में वर्णित है उसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। इतिहासकारों के अनुसार ईसा पूर्व 322 में चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नन्दवंश को पराजित किया था। आचार्य शुक्राचार्य द्वारा रचित शुक्रनीति में देवमन्दिर एवं राजप्रासाद के समानान्तर–अन्य प्रकार के भवनों का निर्माण कला एवं उनकी विभिन्न विधियों नियमों एवं उपनियमों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें दुर्गों जिनका प्रयोग कभी उस कालखण्ड में नगरों की रक्षा के निमित्त निर्माण किया जाता था यहां तक कि दुर्गों की निर्माण प्रक्रिया में जिस सामग्री का प्रयोग किया जाता था उसके विषय में भी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। चाणक्य के काल में वास्तुशास्त्र ने अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था। वास्तुकला के कुशल एवं योग्य वैज्ञानिकों का वर्णन इन्होने स्वरचित अर्थशास्त्र ग्रन्थ के इक्कीसवें अध्याय में किया है। कौटिल्य ने इस ग्रंथ में एक राज्य में भूमि विभाजन के प्रकार की रूपरेखा का वर्णन किया है। भिन्न–भिन्न प्रकार के भवनों का निर्माण की प्रक्रिया एवं निवेश की प्रस्तुति के

साथ–साथ ग्राम का निर्माण में निवेश करना इस तकनीक को एवं पुर अर्थात् नगर निर्माण एवं निवेश के विविध नियमों विधियों एवं उपविधियों का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। इसी क्रम में आगम ग्रन्थों में अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति में सम्पन्न एवं समृद्ध संस्कृति हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो को जाना जाता रहा है। पुरातत्व विभाग द्वारा प्राप्त अवशेषों से स्पष्ट होता है कि समृद्ध एवं वास्तु विधानुसार निर्मित संस्कृति भारतवर्ष में ही पनपी है जिसका आज समस्त विश्व उद्धारण प्रस्तुत करता है। इन पुरातत्व अवशेषों से यह सिद्ध होता है कि शैवागम एवं वास्तुकला का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा। शैवागमों की संख्या 92 है। समानरूप से एक आगम में चार पाद अथवा चारभाग होते है। ऐसा भी कहा जा सकता है जिनमें 1. ज्ञानपाद 2. योगपाद 3. चर्यापाद 4. क्रियापाद है। इस प्रकार से 92 शैवागमों में 368 भाग या पाद होगें। प्रत्येग आगम में चार जो भेद है, इन चारों में तत्तद विषयक ज्ञान–विज्ञान प्रत्येक पाद में उल्लिखित है। उपर्युक्त चारों पादों में क्रियापाद में वास्तुविषयक ज्ञान–विज्ञान के विषय में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए कामिका आगम में कुल 75 अध्याय हैं इनमें 75 अध्यायों में 13 अध्यायों को छोड़कर शेष 62 अध्यायों में वास्तुकला से सम्बन्धित समस्त जानकारी जिसमें नगर एवं ग्राम राजमहल एवं पर्णकुटी तक के विषय का विधिवत उल्लेख प्राप्त होता है।

करणागम में तृतीय अध्याय से लेकर के छः अध्यायों तक वास्तुकला के सिद्धान्तों एवं प्रविधियो का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी क्रम में सुप्रभेदागम में लगभग 15 अध्यायों में वास्तुकला एवं मूर्तिकला के विषय में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। महर्षि काश्यप रचित अंशुमदभेद वास्तुकला एवं मूर्तिकला से सम्बन्धित ग्रंथ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शैव सम्प्रदाय में द्वैतशैव के प्रतिपादक अंशुमान आगम में लिखित वास्तुविद्या विषयक लिखित सामग्री को प्राचीन सामग्री के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गई होगी।

4.4 सारांश

सर्वप्रथम तन्त्र एवं आगम शास्त्र के विषय को जानना तथा आगम कालखण्ड में वास्तुविद्या, मूर्तिकला तथा स्थापत्यकला का कितना प्रभाव था क्या उस कालखण्ड में भी वास्तुविद्या का प्रयोग किया जाता रहा होगा। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आज समस्त जनसमुदाय वास्तुविद्या का प्रचार–प्रसार एवं न समुदाय का शास्त्र के प्रति आकर्षण की स्थिति बनी हुई है। क्या उस कालखण्ड मे भी वास्तुविद्या का प्रचार–प्रसार एवं प्रचलन रहा होगा इस उद्देश्य के साथ इस इकाई का लेखन कार्य किया जाना तय हुआ है। प्रस्तावना मे प्रस्तावित विषय जिनके विषय मे विस्तृत चर्चा होनी है। जैसे कि भारतीय संस्कृति एवं वास्तुशास्त्र चूंकि संस्कारों से संस्कृति का उद्गम होता है। इसलिए सृष्ट्यारम्भ काल से वर्तमान काल पर्यन्त ग्राम, नगर, शहर, कस्बे, राजमहल, देवालय, दुर्ग किले, जलाशय, तालाब, पर्णकुटी आदि का निर्माण प्राचीन काल से वर्तमान काल तक अनवरत प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रगति के पथ पर अग्रसर है इन समस्त विषयों का वर्णन वास्तुशास्त्र एवं भारतीय संस्कृति वाले भाग में किया गया है। वास्तुशास्त्र के अठारह आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें विभिन्न मत–मतान्तर है। इन मत–मतान्तरो के मध्य प्रमाणित रूप से यह दर्शाया गया है कि जो अठारह आचार्यों के इतर बत्तीस आचार्यों के विषय में तथा पच्चीस आचार्यों के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है ये समस्त उद्धरण काल्पनिक है । केवल अठारह आचार्यों के

विषय में जो उल्लेख प्राप्त होता है वही वास्तविक वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक है । इसलिए प्रत्येक आचार्यों के द्वारा अपनी–आपनी बुद्धि विवेक के द्वारा भूमि, भवन, दिशा एवं दशा के विषय में विस्तार से उल्लेख किया गया है भारतीय दार्शनिक मतानुसार **"यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे"** के आधार वाक्य की सार्थकता यही पञ्चमहाभूत सिद्ध करते हैं। पञ्चमहाभूतों का योगदान जिस प्रकार से शारीरिक विकासक्रम में रहता है ठीक इसी प्रकार से ब्रह्माण्ड की स्थिति है। जिस प्रकार से उत्तरोत्तर क्रम से पञ्चमहाभूतों का क्रम शरीर संरचना में रहता है। ठीक उसी प्रकार से गृहनिर्माण में भी इन पञ्चमहाभूतों का योगदान यदि रहेगा तो उन गृहवासीयों के लिए सर्वविध सुख–सौविध्यं आरोग्यता बनी रहेगी शरीर संरचना में पृथ्वी से न्युण जल, तेज, वायु, चारों तत्वों का समूह आकाश में स्थित है। इसलिए गृह निर्माण में सबसे ज़्यादा पृथ्वी तत्व का समावेश होता है और उससे कम जल तत्व का और उससे कम तेज और उससे काम वायु का समावेश हो और अधिक से अधिक गवाक्षों का उपयोग एवं खिड़कियों और दरवाजों का नियत वास्तुसम्मत स्थान पर करने से निश्चित रूप से पञ्चमहाभूतात्मक युक्त गृहनिर्माण किये गये आवास पर निवास करने पर सुख–शान्ति, समृद्धि एवं भाग्य की अभिवृद्धि होगी। तन्त्र एवं आगम मे वास्तुशास्त्र के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें शैवागमों की संख्या बानवे है। प्रत्येक आगम के चार पाद या चार भाग है। जिसमें क्रमशः, ज्ञानपाद, योगपाद, चर्यापाद तथा क्रिया पाद है। पाद क्रिया में वास्तु एवं मुर्तीकला का वर्णन उपलब्ध होता है। उदाहरण के स्वरूप में कामिका आगम में कुल 75 पचहत्तर अध्याय है जिसमें 13 अध्ययायों को छोड़ दे तो लगभग 62 अध्यायों में वास्तुकला एवं मुर्तीकला का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार से करूणागम, सुप्रंभेदागम, अंशुमान आगम में भी वास्तु एवं मूर्तिकला तथा स्थापत्यकला के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है।

4.5 शब्दावली

भुगु	–	भार्गव ऋषि
अत्रि	–	ऋषि
वसिष्ठ	–	ऋषि एवं भगवान राम के गुरू
विश्वकर्मा	–	वास्तुशास्त्र के महान आचार्य एवं देववास्तुविद्
मय	–	रावण के श्वसुर तथा वास्तुशास्त्रोपदेष्टा
नारद	–	नारद एक प्रसिद्ध ऋषि वास्तुविद्
नग्नजित	–	वास्तुविज्ञानी
पुरन्दर	–	वास्तुविद
ब्रह्मा	–	वास्तु के महान आचार्य
वासुदेव	–	वास्तु विशेषज्ञ
अनिरूद्ध	–	वास्तु विज्ञानी
शुक्र	–	शुक्राचार्य एवं वास्तुशास्त्री
बृहस्पति	–	देवगुरू एवं नवग्रहों में प्रधान ग्रह तथा वास्तुशास्त्री
प्रोक्तम्	–	कहा गया है।
वास्तुशास्त्रम्	–	शास्तुशास्त्र को

गर्गायधीमते – गर्गादि द्वारा अपनी मति के अनुसार

गर्गात्पराशरः – गर्ग से पराशर

प्राप्तस्तस्मात्प्राप्तो – प्राप्त करने पर उनसे प्राप्त करना

वृहद्रथः – वृहदरथ

वृहद्रथाद्विश्वकर्मा – वृहद्रथ से विश्वकर्मा

वास्तुशास्त्रकम् – वास्तुशास्त्र को

जगतो – जगत के लिए

हितायकथयत्पुनः – कल्याण के लिए कहा।

4.6 बोधप्रश्न / अभ्यास प्रश्न

1. तन्त्रशास्त्र एवं आगमशास्त्र में वास्तु के विषय में वर्णित विषय पर विस्तृत उल्लेख करें।
2. प्राचीन भारतीय संस्कृति में वास्तु की महन्ता के विषय में स्पष्ट करें।
3. वास्तुशास्त्र के प्रधान आचार्य कौन–कौन है स्पष्ट करते हुए विस्तार से चर्चा करें।
4. कामिका आगम में उल्लिखित वास्तुशास्त्र विषयक पर विस्तार से उल्लेख करें।
5. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आगमोक्त वास्तुशास्त्र पर प्रकाश डालें।
6. वर्तमान सन्दर्भ में वास्तुशास्त्र की उपयोगिता सिद्ध करें।
7. ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र में पारम्परिक सम्बन्ध के विषय में उल्लेख करें।

4.7 सहायक उपयोगी पुस्तकें

1. वृहद्वास्तुमाला– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के 37/177 गोपाल मन्दिर लेन
2. समराङ्गण सूत्रधार– चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के0 37/117 गोपालमन्दिर लेन
3. भारतीय वास्तुविद्या के वैज्ञानिक आधार मान्यता प्रकाशन 60–C मायाकुंज मायाः दिल्ली

4- ऋग्वेद 4-30-20, 7-5-3, 2-41-5, 7-3-7, 3-43-6,

5. मत्स्यपुराण गीताप्रेस गोरखपुर उत्तर प्रदेश।
6. अथर्ववेद गीताप्रेस गोरखपुर उत्तर प्रदेश।
7. शतपथ ब्राह्मंण राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली।
8. राजवल्लभ मण्डन– चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।
9. ज्योतिर्निबिन्ध चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।
10. मुहुर्त चिन्तामणी– चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।
11. कल्पद्रुम भूमि लक्षणाध्याय चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी।

इकाई 5 काव्य एवं नाट्य ग्रन्थों में वास्तु

इकाई की रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

हम पूर्व के अध्ययनों में एवं सामान्य व्यवहार में भी यदा-कदा वास्तु के विषय पर परस्पर या चलचित्र अथवा प्रिंट मीडिया के माध्यम से ज्ञान ग्रहण करते रहते हैं। इसी प्रकार से वैदिक काल में श्रुति परम्परा के माध्यम से जन-जन तक इस शास्त्र का प्रचार प्रसार होता रहा है। वैदिक काल के उपरान्त इसी प्रकार से पौराणिक काल में कथा कहानियों के माध्यम से वास्तुशास्त्र का अनवरत विकास निर्बाध रूप से चलता रहा। काव्य ग्रन्थों में कविता या काव्यपाठों के द्वारा भवन, भूमि, स्तम्भ दिशागत सकारात्मकता एवं नकारात्मकता का सम्बन्धित विषयों के आधारस्वरूप काव्य ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार नाट्यशास्त्रों में नाटकों के माध्यम से भित्तिस्तम्भ, राजभवन, रंगमंच की स्थिति, नगर निर्माण, प्रधान द्वारादि की स्थिति के विषय में नाट्य एवं काव्य ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होते हैं उपर्युक्त विषय को इस इकाई के माध्यम से ज्ञान ग्रहण करवाना ही प्रमुख उद्देश्य है।

5.2 प्रस्तावना

विश्व में भारतवर्ष अपनी संस्कृति के विषय में अपनी अलग पहचान रखता है। भारतवर्ष की संस्कृति विश्व के अन्य देशों के विपरीत अत्यन्त प्राचीन एवं सुदृढ़ थी। जहाँ तक प्राप्त तथ्यों के आधार पर ज्ञात होता है, उनके अनुसार

जब भारतीय लोग आश्रमों एवं गुरुकुलों में शिक्षा दीक्षा प्राप्त कर रहे थे उस कालखण्ड में अन्य देशों का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था। भारतीय संस्कृति को ठीक से जानने एवं पहचानने के लिए आपको रामायण काल एवं महाभारत काल को रामायण महाभारतादि महाकाव्यों का अन्वेषण करना होगा। और भी यदि आगे के विषय में बात करें तो वैदिक काल खण्ड का अध्ययन कर लेना चाहिए। वर्तमान काल खण्ड में सुसम्पन्न भारतेत्तर देश अपनी सुदृढ़ता की चर्चा भले ही करते हो लेकिन अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि देश जिनका वर्तमान काल मे भूमण्डल में अपना प्रभुत्व है। यही प्रभुत्वशाली सम्पन्न देशों के द्वारा आज भारतीय सबसे प्राचीन पुस्तक का श्रेय वेद को प्राप्त है। अतः वेद को पढ़ने मात्र से स्वतः ही ज्ञान हो जाएगा कि भारत की संस्कृति उतनी ही प्राचीन है जितना पुराना वेद है वैदिक कालीन वास्तु से सम्बन्धित विषय का अध्ययन हमने पूर्व के अध्यायों में कर लिया है वर्तमान में हम वैदिक कालीन संस्कृति के उपरान्त नाट्य एवं काव्यों के ग्रन्थों के आधार पर वास्तु शास्त्र के विषय में यहाँ अध्ययन करेंगे। वास्तुकला कितनी प्राचीन है और यह कितनी सुदृढ़ थी इस विषय में और अधिक जानने के हेतु से हमें पुरातत्व के अन्वेषणों एवं प्राचीनतम साहित्य के गूढ़ रहस्य को अनुशीलन से ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की संस्कृति के कालखण्ड के विषय में चर्चा करें तो सिन्धु नदी के समीप निर्मित प्राचीन प्राचीरों का अवलोकन करें तो ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व माना जाता है। इसलिए यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उतने प्राचीन काल में वास्तु, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, लौहवस्तुकला आदि अनेक भौतिक कलायें प्रसिद्ध थी। इसलिए आज वर्तमान काल में सुसभ्य एवं सुसंस्कृत राष्ट्र जिस आधुनिकता के विषय में चर्चा करते हैं या जिन कलाओं के विषय में जानते हैं जैसे वास्तु, मूर्ति, स्थापत्य, भाण्डनिर्माणादि मुख्य कलायें वैदिक युग में पूर्ण रूप से फलित एवं पुष्पित हो चुकी थी। इनको और अधिक प्रमाणिकता के साथ इस प्रकार से जाँचा एवं परखा जा सकता है कि वैदिक कालीन संस्कृति में ये मुख्य कलायें प्रसिद्ध थी। यह वेदों में उन कलाओं से जुड़े विभिन्न सन्दर्भों के उल्लेख से ज्ञात होता है। इसी प्रकार से काव्य ग्रन्थों के विषय में वास्तु शास्त्र का या मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला के विषय में आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण में किष्किन्धा काण्ड के 50वें सर्ग से लेकर 53वें सर्ग में भूगर्भस्थ वर्तमान दुर्ग का अत्यन्त मनोहारी चित्रण प्राप्त होता है। इसी प्रकार से सुन्दरकाण्ड में इस विषय से सम्बन्धित उल्लेखप्राप्त होते हैं। उपर्युक्त समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त हम इस इकाई के माध्यम से करेंगे।

5.3 काव्यग्रन्थों का वास्तुशास्त्रीय आधार

वेदों के छः प्रधान अंग हैं जिनको ठीक से अध्ययन करने के उपरान्त ही वेदों का अध्ययन सम्भव है। इसलिए छः अंगों का जो ठीक से अध्ययन कर लेता है वह वेद को जान लेता है इसलिए वास्तु के उत्तरोत्तर विकास क्रम के लिए हमें वैदिक कालीन वास्तु का अध्ययन करना चाहिए। चूँकि वेदों में स्तम्भों का वर्णन, मूर्तिकला का वर्णन, स्थापत्यकला का वर्णन एवं तत्कालीन आश्रम व्यवस्था पुरव्यवस्था, राजघरानों की निर्माण शैली का चित्रण वैदिक कालीन वास्तु में साहित्य उपलब्ध होता है। परन्तु एसी वास्तुकला को काव्यकारों ने एवं साहित्यकारों ने साहित्यिक दृष्टि से चित्रण किया है वहीं कालान्तर में कथा, कहानियाँ एवं काव्य के रूप में कविता एवं नाट्यकला के माध्यम से समाज में उभरने लगा और पूर्वकालीन ज्ञान को प्राचीन एवं नवीन साहित्यकारों, काव्यकारों द्वारा अलंकारित करके समाज के समक्ष प्रस्तुत किया गया। आदिकवि की संज्ञा महर्षि वाल्मीकि को प्राप्त है। महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण महाकाव्य में प्राचीन दुर्गों एवं अयोध्या की वास्तुकला का चित्रण बहुत ही मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसी क्रम में वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड में 50वें सर्ग से लेकर 53वें सर्ग तक गिरीदुर्ग का चित्रण भूगर्भ में स्थित दुर्ग का चित्रण अत्यन्त रमणीय एवं मनोहारी ढंग से महर्षि द्वारा चित्रित किया है जिसके निर्माण कर्ता मयासुर हैं। मय ने इस दुर्ग का निर्माण अपनी लोकोत्तर शक्तियों द्वारा की थी। सुन्दरकाण्ड में वर्णन उपलब्ध होता है कि लंका में रावण के शासनकाल में निर्मित राजमहल के भवनों की कला शैली अत्यन्त रमणीयता एवं सौन्दर्यता अत्यधिक विलक्षण थी। महाकाव्य की संज्ञा से अलंकारित एवं पञ्चम वेद की उपाधि से सम्मानित महाभारत के सभापर्व के प्रथम अध्याय में वास्तुशास्त्र के पिता विश्वकर्मा एवं मय का वर्णन उपलब्ध होता है। महाभारत में मयासुर एवं विश्वकर्मा के विषय में उल्लेखप्राप्त होता है कि असुर साम्राज्य में जो प्रतिष्ठा आदर एवं सत्कार मय को प्राप्त था वही प्रतिष्ठा देवताओं के मध्य विश्वकर्मा को प्राप्त है। विलक्षण कला सम्पन्न भवन एवं सभागार पाण्डवों के यहां की रचना मय द्वारा ही की गई थी। जिसमें जल के स्थान पर स्थल और स्थल के स्थान पर जल की अनुभूति होती थी तथा द्वार के स्थान पर दीवार दिखाई पड़ती थी। वैसे रामायण महाकाव्य में रावण के सैनिक अथवा विशेष दूत अथवा गुप्तचरों के विषय में ऐसे उल्लेखप्राप्त होते हैं कि देश काल परिस्थिति के अनुसार रूप परिवर्तित करना अथवा मायावी विद्या के द्वारा जल की जगह स्थल को बना देना इत्यादि कलाओं का उल्लेखप्राप्त होता है। मध्यकालीन वास्तुकला में इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। मयासुर रावण के श्वसुर थे लेकिन वह एक सर्वश्रेष्ठ

वास्तुविद् एवं स्थापत्यकला के भी उत्कृष्ट विद्वान थे। इसी प्रकार से देवताओं के यहाँ पर श्रेष्ठ एवं अत्युत्कृष्ट कला के धनी आचार्य विश्वकर्मा जी हुए। जिनके आज वास्तु शास्त्र से सम्बन्धित विषय की "विश्वकर्माप्रकाश" एवं मय द्वारा रचित "मयमतम्" उपलब्ध होता है। काव्यग्रन्थों के इतर भी जैसे अथर्ववेद तथा शुल्वसूत्र साहित्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र में अर्थ के साथ-साथ वास्तु कला एवं स्थापत्यकला के विषय में भी साहित्य उपलब्ध होता है। शुक्राचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ शुक्रनीति जिसमें राजाओं के लिए शासन को सुचारू रूप से संचालित करने के हेतु से विभिन्न कालों में विभिन्न परिस्थितियों में कौन सी कूटनीति का प्रयोग किया जाता है इससे सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ, नगर एवं पुरव्यवस्था, गृह, प्रासाद, भवन हर्म्य, दुर्गों के निर्माण के विषय में भूमिचयन से भवन निर्माण सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होता है। भरतनाट्यम् जैसे ग्रन्थों नाट्यकला के साथ-साथ भू, भवन, निर्माण, कौशलता, रंगमंचशाला का निर्माण आदि वर्णन नाट्यशास्त्रों में वर्णित है। अष्टादश पुराणों में इसके साथ-साथ आगम ग्रन्थों में जिसमें भुक्ति एवं मुक्ति के विषय में ज्ञान की अजस्रधारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है परन्तु सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए गृहादि की आवश्यकता का होना परम आवश्यक है अतः इस दृष्टि से आगम शास्त्र में सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए गृहनिर्माण कला एवं स्थापत्यकला के विषय में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। शुक्राचार्य द्वारा शुक्रनीति में देवमन्दिर एवं राजप्रासाद के समकक्ष अन्य प्रकार के भवनों के समकक्ष अन्य प्रकार के भवनों की विधियों, नियमों तथा उपनियमों का उल्लेखप्राप्त होता है। इनमें दुर्ग रक्षित नगरों एवं दुर्गों की निर्माण प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। चाणक्य के समय में वास्तुकला विज्ञान ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। पौराणिक काव्य ग्रन्थों में लगभग बारह पुराणों में वास्तुकला सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होता है। मत्स्य पुराण में आठ अध्यायों में वास्तुविद्या का वर्णन मिलता है। गरुड़पुराण में वास्तुविद्या प्रतिपादक अध्याय है। अग्निपुराण में वास्तुविद्या का केवल तीन अध्यायों में वर्णन प्राप्त होता है। भविष्य पुराण में एक अध्याय और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में 43 अध्यायों में वास्तुविद्या का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार से प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही कालखण्डों में वास्तुविषयक एवं स्थापत्यकला से सम्बन्धित ग्रन्थों का लेखन कार्य होता रहा है।

5.3.1 नाट्य शास्त्र में वास्तु शास्त्र

भरत मुनि द्वारा रचित नाट्य वेद अथवा नाट्यशास्त्र अपने विषय की अद्वितीय रचना है संसार भर में इस विषय से सम्बन्धित एवं परिपूर्ण तथा इतना प्राचीन अन्य कोई ग्रंथ नहीं है अरिस्तौतिली की **"पेरि पोइतिकीस"** की नामक रचना

नाट्यशास्त्र के विषय में यूरोप में आकर सम्मानित है। नाट्यशास्त्र का प्रधान अंग है नाटक के हेतु से रंगमंच। रंगमंच का निर्माण कार्य उसकी लम्बाई–चौड़ाई, स्तम्भों का वर्णन एवं उनमें रंगों का विस्तार वर्णानुक्रम में किया इस विषय से सम्बन्धित समस्त उल्लेख नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में उपलब्ध होता है। द्वितीय अध्याय में भरत के वचनों को सुनकर मुनियों ने कहा कि हे भगवान हम रंग सम्बन्धी यज्ञ का विषय सुनना चाहते हैंयथा–

भारतस्यवचः श्रुत्वा प्रत्यूचुमनियस्ततः।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो यजन रंगसश्रयम्॥

नाट्यगृह या नाट्यशाला के विषय में भरतमुनि कहते हैं कि देवताओं और ग्रहों का विषय भिन्न है वहाँ पर अपने मन की इच्छा के अनुसार नाट्यमंच अथवा नाट्यगृहों का निर्माण हो जाता है परन्तु मानवीय लोक में यह सम्भव नहीं है मानवीय लोक में तो इनका निर्माण करना पड़ता है। यहाँ विश्वकर्मा द्वारा दिव्य प्रेक्षागृह (नाट्यगृह) का निर्माण तीन प्रकार का होना चाहिए ऐसा शास्त्र में निश्चित किया गया है। (1)आयताकार (2)वर्गाकार (3)त्रिभुजाकार यथा–

त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः।
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्रयस्र श्चौव तु मण्डपः॥

उपर्युक्त मण्डप की माप तीन प्रकार की बताई गई है। ज्येष्ठ अर्थात् बड़ी मध्य अर्थात् न बड़ी ना छोटी और हीन अर्थात् दोनों से छोटी। इनकी मापदण्ड और हस्त के हिसाब से बतलाई गई है। 108 हाथ, 64 हाथ और 32 हाथ यह तीन माप हैं। देवताओं का देवताओं का नाट्य गृह अर्थात् 108 हाथ का होना चाहिए और राजाओं का मध्यम अर्थात् 64 हाथ और सामान्य जनों के लिए 32 हाथ का मण्डप होना चाहिए।

शेषाणा प्रकृतीना तु कनीयःसविधीयते।
प्रेक्षा गृहाणा सर्वेषा प्रशस्त मध्यम स्मृतम्॥

अभिनय करने वालों के द्वारा उत्कृष्ट अर्थात् आयताकार, चतुरस्र वर्गाकार चौकोर तथा त्र्यस्र त्रिकोण प्रकार का कहा है। यहाँ पर भी नाट्यवेद का प्रयोग करने के अनुसार आयताकार को सबसे बड़ा तथा वर्गाकार को मध्यम तथा त्रिकोण के आकार वाले को छोटा प्रेक्षागृह निर्माण के लिए उपयुक्त कहा गया है। नाट्यगृहों के माप के विषय में उल्लेखप्राप्त होता है कि हस्तामक एवं दण्डात्मक भेद से निम्नलिखित 18 प्रकार के नाट्यगृह हो सकते हैं। 332 के भेद से।

(1)हस्तप्रमाणज्येष्ठविकृष्ट	(2)हस्तप्रमाणज्येष्ठचतुरस्र
(3)हस्तप्रमाणज्येष्ठत्र्यस्र	(4)दण्डप्रमाणज्येष्ठविकृष्ट
(5)दण्डप्रमाणज्येष्ठचतुरस्र	(6)हस्तप्रमाणज्येष्ठत्र्यस्र
(7)हस्तप्रमाणमध्यविकृष्ट	(8)हस्तप्रमाणमध्यचतुरस्र
(9)हस्तप्रमाणमध्यत्र्यस	(10)दण्डप्रमाणमध्यविकृष्ट
(11)दण्डप्रमाणमध्यचतुरस्र	(12)दण्डप्रमाणमध्यत्र्यस्र
(13)हस्तप्रमाणकनीयस्विकृष्ट	(14)हस्तप्रमाणकनीयस्चतुरस्र
(15)हस्तप्रमाणकनीयस्त्र्यस्र	(16)दण्डप्रमाणकनीयस्विकृष्ट
(17)दण्डप्रमाणकनीयस्चतुरस्र	(18)दण्डप्रमाणकनीयस्त्र्यस्र

विश्वकर्मा द्वारा सब प्रकार के प्रेक्षागृहों का रंगशालाओं का वर्णन किया गया है उनको इस प्रकार से समझो अणु, रज, बाल, लीख (जूं का अण्डा) जूं, जौ, अंगुल, हस्त तथा दण्ड ये नौ उत्तरोत्तर माप की बढ़ती हुई संज्ञायें कही गई हैं। इसी प्रकार प्रेक्षागृह का निर्माण करना चाहिए। यथा–

अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषा विनिर्णयम्।
चतुः षष्टि करान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम्।।
द्वात्रिंशत् तु विस्तारान्मर्त्याना यो भवेदिह।
अत उर्द्ध न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।।

इस प्रकार से वास्तुशास्त्र के प्रमाण के अनुसार प्रेक्षागृह का निर्माण प्रारम्भ करें। जो भूमि स्थिर हो कठिन हो तथा रंग में काली हो या गौरवर्ण की हो उसी भूमि पर बनवाने वालों के द्वारा नाट्यमण्डप बनवाना चाहिए। उसको चाहिए कि वह हल जोत कर उसका शोधन करे। हल चलवाकर झाड़ियों का, कीलों खपड़ों को साफ कर दे इस प्रकार से भूमि का शोधन करके नाप का निर्देश करना चाहिए। यथा–

ततो वास्तु प्रमाणेन प्रारभेत शुभेच्छया।
समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।।
भूमिस्तत्रैव कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।
प्रथमं शोधन कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत।।
अस्थिकीलकपालानि तृणगुल्माश्च शोधयेत्।।
शोधयित्वा वसुमति प्रमाणं निर्दिशेत्।।

नाट्य गृह निर्माणारम्भ मुहूर्त-

तीनों उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, मृगशिरा, विशाखा, रेवती, हस्त, पुष्य और अनुराधा नामक नक्षत्र नाट्यगृह के निर्माण में शुभ होते हैं। यथा-

त्रीण्युत्तराणि सौम्य च विशाखा चापि रेवती।
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि।।

मल्ल्यविकृष्ट नाट्य गृह निर्माण-

चौसठ हाथ भूमि नापकर उसको दो भागों में बांटे और दो भागों में जो पीछे का भाग है उसके आधे विभाग में रङ्गशीर्ष की रचना करें। तदुपरान्त इसके भी पिछले विभाग में नेपथ्यगृह का विधान करें। यह हस्तप्रमाण वाले नाट्यगृह की रचना का वर्णन है। इसकी कुल लम्बाई 64 हाथ और चौड़ाई 32 हाथ है इसकी लम्बाई को प्रथम दो भागों में बांटा जाता है इसमें अन्तिम 16 हाथ वाले भाग को 8 8 हाथ के दो भागों में विभक्त किया जाता है सबसे पीछे वाला भाग 8 32 वाला भाग नेपथ्यगृह कहलाता है और उससे अग्रिम भाग रङ्गशीर्ष कहलाता है। नेपथ्य रङ्गशीर्ष के पीछे वाले भाग को कहते हैं। जो नटों की वेशभूषा सजाने के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें जो कुछ कार्य होता है दर्शकों को दिखाई नहीं देता कभी-कभी वहाँ का परस्पर वार्तालाप सुनाई पड़ सकता है। यथा -

चतुःषष्टि करान्कृत्वा द्विधाकुर्यात्पुनश्चतान्।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु।।
तस्यार्द्धेन विभागेन रङ्गशीर्ष प्रकल्पयेत्।
पश्चिमेऽथ विभागे च नेपथ्यगृहमादिशेत्त्।।

स्तम्भों का निर्माण एवं स्थापना-

शुभ तिथि, नक्षत्र और योग तथा शुभकरण में स्तम्भों की स्थापना रोहिणी अथवा श्रवण नक्षत्र में की जानी चाहिए यथा-

तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन च।।

स्तम्भों के विषय में वर्णानुक्रम से निर्माण करने के लिए आचार्य भरतमुनि द्वारा उपदिष्ट किया गया है अतः इस हेतु से सर्वप्रथम ब्राह्मण स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिए। इसका संस्कार घृत और सरसों से किया जाता है। इस सब में पूजा की विधि श्वेत वर्ण के पुष्पों से की जानी चाहिए। यथा-

प्रथमे ब्राह्मणे स्तम्भे सर्पि सर्षपसंस्कृते।
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात्पायसमेव च॥

इसके पश्चात् वर्णानुक्रम में क्षत्रियों के स्तम्भ की स्थापना का उल्लेखप्राप्त होता है। क्षत्रियों के स्तम्भ पर वस्त्रमाला और अनुलेपन इत्यादि सभी वस्तुएं लाल रंग की करनी चाहिए और इस अवसर पर ब्राह्मणों को गुड़धानी प्रदान की जानी चाहिए। तथा वैश्य स्तम्भ की स्थापना नाट्यगृह के पश्चिमोत्तर दिग्भाग में होनी चाहिए। इस स्तम्भ की स्थापना के समय सभी विधियाँ पीले रंग की वस्तुओं से की जानी चाहिए और ब्राह्मणों को घृत सहित भात दिया जाना चाहिए। चतुर्थ वर्णक्रम में पूर्व तथा उत्तर दिशा के कोण में स्थित अन्य के स्तम्भ पर ठीक प्रकार से प्रयत्नपूर्वक उपर्युक्त समस्त विधि निर्माण में नीले पुष्पों से की जानी चाहिए और इसके उपलक्ष्य में खिचड़ी ब्राह्मण भोजन में दी जानी चाहिए। यह जो स्तम्भों की स्थापना में विविध वर्णों की व्यवस्था है। वह विविध वर्णों की व्यवस्थाओं की सूचक। है ब्राह्मण वर्ण का स्तम्भ श्वेत वर्ण सात्विकता और ज्ञान का सूचक है। क्षत्रिय वर्ण का लाल स्तम्भ वृत्ति और शौर्य का सूचक है। वैश्य स्तम्भ पीतवर्ण का होने के कारण स्वर्ण का सूचक है जो धन सम्पत्ति की ओर संकेत करता है। नीलवर्ण जिसका सम्बन्ध रुद्र स्तम्भ से है तामस् वृत्ति का द्योतक है। विभिन्न वर्ण एवं जातियों के लिए प्रयुक्त होने वाला वर्ण रूपी स्तम्भ रंग का ही एक पर्याय है मानसार वास्तुशास्त्र से भी विभिन्न जातियों के वास्तुभेद का अनेक स्थानों पर उल्लेखप्राप्त होता है। यथा–

ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम्।
सर्व रक्त प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम्॥

वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे।
सर्व पीतं प्रदातव्य द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्।

शुद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये।
नील प्रायं प्रयत्नेन कृशरा च द्विजाशनम्॥

स्तम्भ स्थापना के विषय में कुशल निर्माताओं के द्वारा स्तम्भों के नीचे लोहा स्थापित करना चाहिए। तथा ब्राह्मण भोज में खाने के लिए खिचड़ी दी जानी चाहिए। इस प्रकार से सब विधियों नियमों के अनुसार मत्रवारणी बनाई जानी चाहिए। यहाँ पर मत्रवारणी अथवा मत्रवारणी क्या है इस विषय में जानना चाहिए। मत्रवारण शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है अतः यहाँ पर मत्रवारण शब्द का प्रयोग अट्टालिका, वरण्डा के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जैसे–

आयस तत्र दातव्य स्तम्भानां कुशलैधरः।
भोजने कृसरा चौव दातव्या ब्राह्मणाशनम्।।
एवं विविध पुरस्कारैःकर्तव्या मत्रवारणी।

यहाँ पर मत्रवारणी शब्द का अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है प्रस्तुत प्रकरण में इतना स्पष्ट है कि मत्रवारणी रंगपीठ के पार्श्व में दोनों और होनी चाहिए और स्तम्भों से मुक्त होनी चाहिए। इनकी कुर्सी की ऊँचाई डेढ़ हाथ होनी चाहिए। इससे यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है कि मत्रवारणी रंगपीठ के अगल-बगल अर्थात् दोनों ओर वरण्डे होने चाहिए। यथा-

कपोतं प्रस्तरं चौव मञ्च प्रच्छादनम् तथा।
गोपान च वितानं च बलभी मत्रवारणम्।
विधानं च लुपं चौवमेते पार्यायवाचकाः ।।

इस रचना के उपरान्त विधि के द्वारा कहे गए कर्मानुसार रंगपीठ का निर्माण किया जाना चाहिए। छः लकड़ी के खम्भों से युक्त रंगशीर्ष बनाया जाना चाहिए। और इसमें नेपथ्यगृह के दो द्वार बनाने चाहिए। रंगशीर्ष को भरने के लिए ढेरों कंकड़ों से रहित तिनकों से रहित की गई काली मिट्टी प्रयत्न पूर्वक डाली जानी चाहिए। हल में श्वेत वर्ण के बैल यत्न पूर्वक जोते जाने चाहिए। तथा वाहक के रूप में ऐसे लोगों को लगाना चाहिए जिनका अंगभंग न हो अर्थात् विकलांग न हो इस प्रकार निर्धारित विधि के अनुसार रंगशीर्ष प्रयत्न पूर्वक बनाया जाना चाहिए। यथा-

रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रङ्गशीर्षं तु कर्तव्य षट्दारुक समन्वितम्।

कार्य द्वारद्वय चात्रं नेपथ्यगृहकस्य तु।।
पूरजे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः।
लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्टतृण शर्करम्।।

लाङ्गले शुद्धवर्णौ तु धुर्य्यौ योज्यौ प्रयत्नतः।
कर्तारः पुरुषाश्चात्र ये ङ्गदोषविवर्जिताः।।

अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पी वरैर्नरः।
एव विधं प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षप्रयत्नतः ।।

वास्तुशास्त्र सम्मत स्तम्भ स्थापना-

वर्णानुक्रम के अनुसार ही स्तम्भ के लिए आदेश प्राप्त होते हैं। ठीक इसी प्रकार से स्तम्भ प्रयुक्त होने वाली काष्ठ कैसी होनी चाहिए इस इस उद्देश्य से विचार

किया गया है। ब्राह्मण वर्ण के स्तम्भ चन्दन की काष्ठ का और क्षत्रिय वर्ण के लिए खैर का, वैश्य के लिए धाम की लकड़ी प्रयोग करना चाहिए और शूद्र स्तम्भ सभी वृक्षों का कहा गया है स्पष्ट है कि चन्दन का वर्ण सफेद होता है खैर का लाल वर्ण होता है तथा वब का वर्ण पीला होता है। प्राचीन काल में कुछ इस प्रकार का विधान प्रचलित था। इसके विषय में मानसार वास्तुशास्त्र में भी उल्लेखप्राप्त होता है। मानसार का 15वाँ अध्याय तथा 177वाँ श्लोक विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उपर्युक्त साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि प्राचीन काल में स्तम्भ काष्ठ के ही बनते थे। इस प्रकार से नाट्यशास्त्र में वास्तुशास्त्र का विशेष योगदान है। जिसका उल्लेख भरतमुनि रचित नाट्यशास्त्र में मिलता है

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वास्तु विचार

वास्तु विन्यास की दृष्टि से कौटिल्य अर्थशास्त्र में वास्तु के विषय में चतुर्थ अध्याय के 22वें प्रकरण में दुर्गनिवेश के विषय में विस्तृत उल्लेखप्राप्त होता है। दुर्ग में राजमार्ग का निर्माण, राजभवन का विन्यास और अमात्य भवन का निर्माण के विषय में विस्तृत रूप से उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम हम यहाँ पर राजमार्ग निर्माण के विषय में चर्चा करेंगे। राजमार्ग निर्माण के लिए दुर्ग विधान में तीन मार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर, और तीन ही मार्ग उत्तर से दक्षिण की ओर होने चाहिए। अर्थात् नगर बसाने के लिए एक स्थान केन्द्र मानकर वहाँ से पूर्व की ओर तीन मार्ग, पश्चिम की ओर तीन मार्ग आमने-सामने ही एक सीध में होवें। इस प्रकार तीन मार्ग उत्तर एवं तीन मार्ग दक्षिण की ओर होने चाहिए। इस प्रकार लम्बे छः भागों में वास्तु अर्थात् गृहनिर्माण के लिए निश्चित भूमि का विभाग करना चाहिए। यथा-

त्रयः प्राचीना राजमार्गास्त्रय उदीचीना इति वास्तुविभागः।

द्वार विधानम्-उपर्युक्त विभागानुसार प्रत्येक दिशा में तीन दरवाजे होने के कारण चारों और कुल मिलाकर बारह दरवाजे होंगे। बारह दरवाजों से युक्त तथा उचित जल भूमि और गुप्त मार्गों से युक्त यह वास्तु विभाग होना चाहिए। **यथा-**

स द्वादश द्वारो युक्तोदकभूमिच्छन्नपथः। चतु ंदण्डान्तरा रथ्याः

मार्ग परिमाप- राजमार्ग, द्रोणमुख अर्थात् चार सौ गाँव का प्रधानभूत केन्द्र, स्थान स्थानीय आठ सौ गाँव का प्रधानभूत केन्द्रस्थान, राष्ट्र तथा चारागाह को जाने का स्थान, व्यापारी एवं मंडियों को जाने का मार्ग, सेना का मार्ग, श्मशान का मार्ग तथा अन्य गांव को जाने का मार्ग यह सभी आठ-आठ दण्ड के चौड़े होने चाहिए। जलाशयों तथा जंगलों का मार्ग भी चार दण्ड चौड़ा होना चाहिए।

हाथियों के चलने का रास्ता तथा खेतों को जाने का रास्ता, दो दण्ड चौड़ा होना चाहिए। पाँच आरत्रि अर्थात् ढाई गज चौड़ा रथों का तथा दो गज चौड़ा पशुओं का रास्ता होना चाहिए। दो अरत्रि अर्थात् एक गज चौड़ा रास्ता मनुष्य तथा भेड़, बकरी आदि छोटे-छोटे पशुओं के लिए होना चाहिए।

राजमार्गद्रोणमुखस्थानीयराष्ट्रविनीतपथः संयानीयव्यूश्मशानग्रामपथाश्चाष्टदण्डाः चतुर्दण्डः सेतुवनपथः । द्विदण्डो हस्तिक्षेत्रपथः । पञ्चारत्नयो रथपथश्चत्वारः पशुपथः । द्वौ क्षुद्र पशुमनुष्यपथः

भवन विभाग-अन्तःपुर के पूर्वोत्तर भाग में आचार्य पुरोहित स्थान यज्ञस्थान तथा जलाशय बनवाए जाएं और मन्त्रियों के निवास स्थान भी इस ओर ही बनवाने चाहिए। पूर्वदक्षिण भाग में महानस अर्थात् रसोई, हस्तिशिला अर्थात् हाथी की पीठ के समान चौरस सभागृह अर्थात हाथियों के रहने की जगह और कोष्ठागार बनवाना चाहिए। **यथा**-

> **तस्य पूर्वोत्तरं भागमाचार्यपुरोहिते ज्यातोयस्थानं मन्त्रिणश्चावसेयुः।**
> **पूर्व दक्षिण भागं महानसं हस्तिशाला कोष्ठागारं च॥**

भवन निर्माण के विषय कौटिल्य द्वारा और भी विस्तृत उल्लेख अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है। पूरब दिशा में इत्र,तेल, घृत, पुष्पहार, अन्न, घी, तेल की दुकानें और प्रधान कारीगरों एवं क्षत्रियों के निवास स्थान होने चाहिए। दक्षिण पूरब में भण्डागार, राजकीय पदार्थो के आय-व्यय का स्थान और सोने-चांदी की दुकानें होनी चाहिए। इसी प्रकार से दक्षिण-पश्चिम में शास्त्रागार तथा सोने-चांदी के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को रखने का स्थान होना चाहिए। उससे दक्षिण दिशा में नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यापाराध्यक्ष, खदानों तथा कारखानों के निरीक्षक, सेनाध्यक्ष, भोजनालय, शराब एवं मांस की दुकानें वेश्या, नट और वैश्य आदि के निवास स्थान होने चाहिए। पश्चिम-दक्षिण भाग में ऊंटों एवं गधों के तबेले तथा उनके व्यापार के लिए अस्थाई घर बनवाना चाहिए। पश्चिम-उत्तर की ओर रथ तथा पालकी तथा सवारियों को रखने का स्थान होना चाहिए। उससे आगे पश्चिम दिशा में ही ऊन, सूत, बाँस एवं चमड़े का कारोबार करने वाले हथियार एवं उनके म्यान बनवाने वाले और शूद्र लोगों को बसाया जाना चाहिए। उत्तर-पश्चिम में राजकीय पदार्थों को बेचने खरीदने का बाजार और औषधालय होने चाहिए। उसके आगे उत्तर दिशा की ओर नगर देवता, कुलदेवता, लुहार, मनिहार और ब्राह्मणों के स्थान बनवाए जायें। नगर के चारों ओर छोर जहां खाली जगह छूटी है वहाँ धोबी, दर्जी, जुलाहे और विदेशी व्यापारियों को बसाया जाना चाहिए। **यथोक्तम्**

ततः पर गन्धमाल्यधान्यरसपण्याः प्रधानकारवः क्षत्रियाश्च पूर्वा दिशमधिवसेयुः । दक्षिण पूर्वभागं भाण्डागारमक्षपटलं कर्मनिषद्याश्च। दक्षिणपश्चिम भागं कुप्यगृहयुधागारं च। ततः परं नगरधान्यव्यावहरिक कार्मान्तिकबलाध्यक्षाः पक्वान्नसुरामांसपण्याः रूपाजीवास्तालावचरा वैश्याश्च दक्षिणां दिशमधिवसेयुः। पश्चिम-दक्षिण भागं खरोष्ट्रगुप्तिस्थानं कर्मगृहं च। पश्चिमोत्तर भागं यानरथशालाः। ततः परं ऊर्णासूत्रवेणुचर्मवर्मशस्त्रावरणकारवः शूद्राश्च पश्चिमां दिशमधिवसेयुः। उत्तरपश्चिमं भागं पण्यभैषज्यगृहम्उत्तरपूर्व भागं कोशो गवाश्वं च। ततः परं नगरराजदेवतालोहमणिकारवो ब्राह्मणश्चोत्तरां दिशमधिवसेयुः। वास्तुच्छिद्रानुलासेषु श्रेणीप्रवहणिकनिकाया आवसेयुः।

इस प्रकार से कौटिल्य अर्थशास्त्र में वास्तु के विषय विस्तृत रूप से नगर एवं पुर की संरचना के विषय में वर्णन उपलब्ध होता है।

5.3.2 काव्य ग्रन्थों में वास्तु शास्त्र

रामायण, महाभारत पुराणादि महाकाव्यों में वास्तुशास्त्र विषयक प्रचुर मात्रा में प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि रचित रामायण महाकाव्य में दुर्गों का गुफाओं के भीतर की स्थिति एवं रख-रखाव के विषय में एवं लङ्का काण्ड में मयरचित लङ्कापुरी की पुर व्यवस्था, नगर व्यवस्था, द्वार बरामदा स्तम्भों का वर्णन वाटिकाओं का उल्लेख मयासुर द्वारा रचित वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप उल्लेख मिलते हैं। किष्किन्धा काण्ड में किष्किन्धा के विषय में 50 से 53 अध्यायों के मध्य विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार से सुन्दरकाण्ड में भी वास्त सम्मत भवनों, दुर्गों, गुफाओं का वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में हनुमान जी सीता को ढूंढने के दौरान विन्ध्याचल की गुफाओं और दुर्गम स्थानों सघन वन को ढूंढने लगे। यथा-

**सत तांग दाभ्यां संगम्य हनुमान्कपिः।
विचिनोति सा विन्धस्य गुहाश्च गहनानि च॥**

किष्किन्धा काण्ड के 51वें सर्ग के द्वितीय श्लोक में हनुमान एवं तापसी संवाद में हनुमान तापसी कहते हैं कि हम सब लोग थके माँदे भूखे प्यासे और सब प्रकार से खिन्न होकर सहसा इस अंधकार पूर्ण बिल में चले आये हैं। यथा-

**इदं प्रविष्टाः सहसा विलं तिमिरसंवृतम्।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ताः परिखिन्नाश्च सर्वशः॥**

हनुमान पुनः यहाँ पर तापसी से प्रश्न करते हैं कि यह पवित्र भोज्य पदार्थ फल मूलादि किसके हैं। यह सोने के सतखने भवन और चांदी घर। यह सोने के गवाक्षों से युक्त हैं। और जिन पर मणियों की पर्दायें पड़ी हैं किसके हैं यह सभी सुवर्णमय फल-फूल युक्त पेड़ जिनकी पवित्र सुगन्ध फैली है।

शुचीन्यभ्यवहार्याणि मूलानि च फलानि च।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च॥

तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानि च।
पुष्पिताःफलवन्तश्च पुण्याःसुरभिगन्धिनः ॥

इस प्रकार प्रश्नों के उत्तरों को देती हुई उस तपस्विनी ने हनुमान को उत्तर देते हुए कहने लगी महातेजस्वी मय नाम का एक मायावी श्रेष्ठ दानव था। उसने ही यह सब सुवर्णमय वन अपनी माया के बल से बनाया है। पहले यह दानव मुख्यदानवों का विश्वकर्मा था अर्थात् शिल्पी था। जिसने यह सुवर्णमय दिव्य भवन बनाया है उसने महावन में एक हजार वर्ष तप करके पितामह ब्रह्माजी से यह वर पाया कि शिल्पविद्या सम्बन्धी जो विद्या शुक्राचार्य ने बनाई है उसका समस्त ज्ञान उसको। हो वह महाबली इन वन को बनाकर यहाँ की समस्त भोग्य वस्तुओं का स्वामी हो गया।

यथा–

प्रत्युवाच हनूमन्तं सर्वभूतहिते रता।
मयोनाम महातेजा मायावी दानवर्षभः॥

तेनेदं निर्मितं सर्वं मायया काञ्चनं वनम्।
पुरा दानवमुख्यानां विश्वकर्मा वभूव ह॥

येनेदं काञ्चनं दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम्।
स तु वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने॥

पितामहाद्वरं लेभे सर्वमौनसं धनम्॥
वनं विधाय बलवान्सर्वकामेश्वरस्तदा॥

इस प्रकार से काव्य ग्रन्थों में वास्तु के महान अष्टादश आचार्यों मे मय वास्तुशास्त्री द्वारा निर्मित भवन गृहों का उल्लेखप्राप्त होता है। इसी प्रकार से वास्तुशास्त्र के विषय में अष्टादश पुराणों में गरुड़ पुराण के चौदवें अध्याय में यम एवं यम सभा का वर्णन, चित्रगुप्तादि के भवनों का परिचय का वर्णन उपलब्ध होता है।

हे गरुड़! धर्मराज का नगर नारदादि श्रेष्ठ मुनियों के लिए भी अगम्य है उसके विषय में बताता हूँ। उस दिव्य नगर को महापुण्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। दक्षिण दिशा और नैऋत्य कोण के मध्य में जो नगर है वह सम्पूर्ण नगर वज्र का बना हुआ है। दिव्य है तथा असुरों एवं देवताओं के लिए भी अभेद्य है। यह पुर चौकोर, चार द्वारों वाला, ऊँची चाहरदीवारी से घिरा हुआ। एक हजार योजन प्रमाणवाला कहा गया है। उस पुर में चित्रगुप्त का सुन्दर मन्दिर है जो पच्चीस योजन लम्बाई एवं चौड़ाई में फैला हुआ है। उसकी ऊँचाई दश योजन है। और वह लोहे की अत्यन्त दिव्य चाहरदीवारी से घिरा हुआ है। वहाँ आवागमन के लिए सैकड़ों गलियाँ हैं। वह पताकाओं और ध्वजाओं से विभूषित है। वह विमान समूहों से घिरा हुआ है। और गायन-वादन से निर्धारित है। चित्रकारी में निपुण चित्रकारों से चित्रित है तथा देवताओं के शिष्यों ने उसका निर्माण किया है।

**"शृणु तार्क्ष्य प्रवक्ष्यामि यदागम्यं नारदादिभिः।
तद्धर्मनगरं दिव्यं महापुण्यैरवाप्यते याम्यनैर्ऋतयोर्मध्ये पुरं वैवस्वतस्य मत।
सर्व वज्रमयं दिव्यमभेद्यं तत्सुरासुरैः॥**

**चतुरस्रं चतुर्द्वारमुच्चप्राकार वेष्टितं योजनानां सहस्रं हि प्रमाणेन तदुच्यते॥
तस्मिन् पुरेऽस्ति सुभगं चित्रगुप्तस्य मन्दिरम।
पञ्चविंशतिसंख्याकैर्योजनैर्विस्तृतायताम्।**

**दशोच्छ्रितं महादिव्यं लोहप्राकारवेष्टितम। प्रतोलीशतसंचारं
पताकाध्वजभूशितम॥ विमानगणसंकीर्णं गीतवादित्रनादितम। चित्रितं
चित्रकुशलैर्निर्मितं देवशिल्पिभिः।"**

इसी प्रकार से गरुड़ पुराण में चित्रगुप्त के विभिन्न घरों का दिशा के अनुसार निर्मित भवनों का उल्लेखप्राप्त होता है। चित्रगुप्त के घर के पूरब की ओर ज्वर का एक बड़ा विशाल घर है और उनके घर के दक्षिण में शूल, लूता और विस्फोट के घर हैं तथा पश्चिम में कालपाश, अजीर्ण तथा अरुचि के घर हैं। चित्रगुप्त के घर के उत्तर की ओर राजरोग और पाण्डुरोग का घर है ईशानकोण सिरः पीड़ा का और अग्निकोण में मूर्छा का घर है। नैऋत्यकोण में अतिसार का, वायव्य कोण में शीत और दाह का स्थान है। इस प्रकार और भी अन्यान्य व्याधियों से चित्रगुप्त का घर घिरा हुआ है। चित्रगुप्त मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों को लिखते हैं। चित्रगुप्त के भवन से बीस योजन आगे नगर के मध्य भाग में धर्मराज का महादिव्य भवन है वह दिव्य रत्नमय तथा विद्युत की ज्वाला मालाओं से युक्त और सूर्य के समान देदीप्यमान है। वह दो सौ योजन चौड़ा दो सौ योजन लम्बा और पचास योजन ऊँचा है। हजार स्तम्भों पर धारण किया

गया है। वैदूर्यमणि से मण्डित है तथा स्वर्ण से अलंकृत है और अनेक प्रकार के हर्म्य और प्रासाद गृहों से परिपूर्ण है। शरद कालीन मेघ के समान उज्जवल, निर्मल एवं सुवर्ण के बने हुए कलशों से अत्यन्त मनोहर चित्र रंग के स्फटिक से बनी हुई सीढ़ियां हैं और बज्र की कट्टिम से सुशोभित है। गवाक्षों में मोतियों के झालर लगे हैं वह पताकाओं और ध्वजों से विभूषित, घण्टा और नगाड़ों से निनादित सुवर्ण के बने तोरणों से मण्डित हैं। उपर्युक्त उल्लेख गरुड़ पुराण के चौदहवाँ अध्याय के श्लोक 567 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22 23 24 25 में वर्णित है। इस प्रकार से काव्यशास्त्र में पुराणों में महाभारतादि ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र के उल्लेखप्राप्त होते हैं।

5.4 सारांश

विश्व की समस्त संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन एवं सुसभ्य संस्कृति है जिसके प्रमाण हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो (वर्तमान में पाकिस्तान में) के पुरातत्वावशेष से प्राप्त किए जा सकते हैं। विश्व के अन्य राष्ट्र जब तक खान–पान, रहन–सहन, वस्त्र–आभूषण के विषय जानते तक नहीं थे जब भारतवर्ष का रहन–सहन, खान–पान, वस्त्र–आभूषण, शिक्षा–दीक्षा, आचार–विचार, धर्म–धर्म के विषय कहीं परिपक्व एवं विकसित थे। लेकिन अशिक्षा असंस्कार पूर्ण विचारधारा के लोग किसी राष्ट्र की उन्नति एवं तरक्की तथा सम्पन्नता को देखकर प्रायः एक बार नहीं छोटे–बड़े सभी प्रकार के आक्रमण हुए विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा जिस कारण बार–बार इस राष्ट्र पर चोट पहुंचाना और लूटपाट करके भाग जाना इस प्रकार बारम्बार होने के कारणवश भारत की स्थिति विकसित राष्ट्रों की श्रेणी से वर्तमान में विकासशील राष्ट्र के रूप में जानी जाती है। विश्व की सबसे प्राचीन पुस्तक भारत में है जिसमें वर्णित उपर्युक्त आचार–विचार एवं शिक्षा पद्धति को इस पुस्तक में वर्णित किया है जिसको वर्तमान कालिक विकसित राष्ट्रों ने भी यह मान्यता दे डाली है कि विश्व की सबसे प्राचीन पुस्तक वेद है। वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। वेदों में जो दृश्य–अदृश्य रूप में वर्णित है वह सब संसार में है। और जो संसार में नहीं है वह वेदों में नहीं है। ऐसे उल्लेख वैदिकों द्वारा भारतीय प्राचीन इतिहास एवं वैदिक कालीन शिक्षा एवं संस्कृति के इतिहास से हमें प्राप्त होते हैं। यदि पुरातत्त्वावशेषों के आधार पर पुरातत्त्व विभाग के अनुसार भी विचार करें तो सिन्धु नदी के समीप निर्मित प्राचीन प्राचीरों का अवलोकन करें तो ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व इस संस्कृति का कालखण्ड हड़प्पा की संस्कृति के नाम से जाना जाता है। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि इतने प्राचीन काल में वास्तु, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, लौहवास्तुकला आदि अनेक भौतिक कलायें

प्रसिद्ध थी। शिक्षा के क्षेत्र में भारत को अपने ज्ञान-विज्ञान, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, भूगोल एवं खगोल विज्ञान में भारत ने ही समस्त विश्व के राष्ट्रों को यह ज्ञान उपलब्ध कराए थे यहाँ तक कि विदेशी संस्कृति आज जो पल्लवित एवं पुष्पित हो रही है इसका प्रचार-प्रसार करने भारत से ही ईश्वर तुल्य चाहे वह जैनी हो या बौद्ध हो या फिर हिन्दू संस्कृति हो जिसका उल्लेख इतिहास में वर्णित है। वैदिक कालीन संस्कृति के उपरान्त भारतीय न ही तो थके और न ही हारे वह विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों से दुःखी व्यथित होते हुए भी शिक्षाविदों द्वारा परम्पराओं के माध्यम से शिक्षा-दीक्षा का कार्य एवं कुल परम्परा के अनुसार ही कण्ठस्थीकरण चलता रहा जिसका परिणाम यह निकला कि आज जब हम पुनः विकासशील राष्ट्रों की श्रेणी में अग्रसारित हो रहे हैं तो आज वह हमारी प्राचीन वैदिक कालीन शिक्षा ही आधार बनी। कालान्तर में काव्यग्रन्थों एवं नाट्यग्रन्थों में भी वास्तुशास्त्रीय शिक्षा का उल्लेख हमें प्राप्त हुआ वह चाहे महाकाव्यों जैसे रामायण महाकाव्य में 50 से 53 सर्ग के मध्य में किष्किन्धा काण्ड में वर्णित दानव मयासुर द्वारा लङ्का निर्माण से लेकर दुर्गों एवं अलौकिक वनों को निर्माण करने का उल्लेख हो महाभारत में मय द्वारा पाण्डवों के गृह का वर्णन जिसमें जल के स्थान पर स्थल और स्थल स्थान पर दीवार दिखाई पड़ना इस प्रकार की वास्तुकला का उल्लेखप्राप्त होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चतुर्थ अध्याय के 22वें प्रकरण में दुर्ग निवेश के विषय में विस्तृत उल्लेखप्राप्त होता है जिसमें राजभवन, राजमार्ग, अमात्यभवन एवं जन समुदाय के भवनों के निर्माण के लिए वर्णित विषय है। भरतमुनि रचित नाट्यशास्त्र में रंगमंच का निर्माण के विषय में द्वितीय अध्याय में नाटक जिसमें देवनागरी एवं विशेष वर्ग तथा निम्न वर्ग से संबंधित नाटक गृहों का उल्लेखप्राप्त होता है। इस प्रकार से वास्तुशास्त्र का काव्य ग्रन्थों एवं नाट्यग्रन्थों में भी विषय विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है।

5.5 शब्दावली

भारतस्य – भारत के निर्दिशेत- निर्देशित करना

वचः – वाणी

त्रीण्युत्तराणि – तीनों उत्तरा से सम्बन्धित नक्षत्र

श्रुत्वा – सुनकर

सौम्य – मृगशिरा नक्षत्र

श्रोतुम् – सुनना

तिष्य – पुष्य

रङ्गश्रयम- नाट्यशाला

प्रशस्ता - उपयुक्त

त्रिविधः - तीन प्रकार

नाट्यकर्मणि - नृत्य कला में

शास्त्रतः - शास्त्र से

पृष्ठतो - पृष्ठ भाग में

परिकल्पितः - परिकल्पित

तस्यार्द्धेन -उससे आधा

चतुरस्र - चौकोर

प्रकल्पयेत् - कल्पना करें

卐यस्र - तिकोना

नेपथ्यगृहम् - रंगमंच का पृष्ठ भाग

मण्डपः- मण्डप

सर्पि -घृत

प्रेक्षा - दृश्य

सर्षप -सरसों

मध्यम - बीच वाला

सर्वशुक्लो -सभी सफेद

कनीयः - छोटा

पायसमेव -दूध ही

विनिर्णयम् -निर्णय करना चाहिए

वस्त्रमाल्यानुलेपनम्- वस्त्र माला का लेपन

चतुःषष्टिः -64 हाथ

द्विजेभ्यश्च - ब्राह्मणों को

दवात्रिंशत् -32 हाथ

गुडौदनम् - गुड एवं भात

दीर्घत्वेन - लम्बाई के

प्रदातव्यं - प्रदान करना

विस्तारान् -चौड़ाई

पश्चिमोत्तरे - पश्चिम एवं उत्तर का मध्यभाग

प्रमाणेन - प्रमाण के द्वारा

घृतौदनम्- घृत एवं भात

शुभेच्छया -अच्छी भावना

द्विजाशनम्- ब्राह्मणों को आसन

शोधन- शुद्धिकरण

आयस - लोहा

कृष्णा -काली

कृसरा- खिचड़ी

गौरी- सफेद

ब्राह्मणाशनम् - भोज खाने के लिए

लाङ्गलेन - हल के द्वारा

मत्रवारणी- अट्टालिका/बरामदा

समुत्कृषेत -खींच कर

विधिदृष्टेन - विधिपूर्वक

अस्थि- हड्डी

शर्करम् -शर्करा

कील- कीलादि

योज्यौ - जोड़कर

कपालानि-खोपड़ी

सर्वभूतहित - सभी जन के हित से

तृण- तिनका

काञ्चन वनम्- सुवर्ण वन

मुल्म -झाड़ियां

दानवमुख्यानां- दानवों के प्रमुख

शोधयेत- शुद्धिकरण

पितामहाद्वरं - ब्रह्मा द्वारा

वसुमति -पृथ्वी

लेभे - प्राप्त किया

तद्धर्मनगरं - उससे आधा नगर

5.6 बोध प्रश्न/ अभ्यास प्रश्न

1- नाट्य शास्त्रों में वास्तुशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालें।

2- रामायण में वर्णित वास्तुशास्त्र के विषय में वर्णन करें।

3- महाभारत में वास्तु शास्त्र का उल्लेख वर्णित है इस विषय पर विस्तृत विवेचना करें।

4- रंगमन्च के निर्माण की विधि का उल्लेख करें।

5- नाट्यमन्च के विविध प्रकारों का वर्णन करें।

6- दुर्ग निर्माण का वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से उल्लेख करें।

7- काव्य एवं नाट्य ग्रन्थों में वर्णित वास्तु विषयक विषयवस्तु का वर्णन विस्तृत रूप से करें।

5.7 सहायक उपयोगी पुस्तकें

1 कौटलिय अर्थशास्त्र, अमृत प्रैस, अमृतधारा भवन लाहौर, लाला दुर्गादास प्रिंटर अगस्त 1925 में प्रकाशित।

2 सचित्र श्रीमद् वाल्मीकि-रामायण किष्किन्धाकाण्ड 5रामनारायण लाल पब्लिसर और बुक्सेलर इलाहाबाद 1927

3 गरुड़पुराण- सारोद्धार प्रकाशक एवं मुद्रक- गीताप्रेस गोरखपुर 273005

4 नाट्यशास्त्रम्, श्री भरतमुनि प्रणीतम्, प्रकाशक साहित्य निकेतन कानपुर 1954